आमुख

'समस्या के अन्त' के पश्चात् एकांकी नाटकों का यह मेरा चौथा संग्रह है। और इस तरह मैं अब तक प्राय: तीस एकांकी नाटक लिख चुका हूँ। 'अभिनव एकांकी नाटक' में मैंने नाटक के विस्मयात्मक अन्त और संवाद की प्रगल्भता पर जोर दिया है। उसमें नाटक के सौन्दर्य-बोध के साथ मैंने वस्तु की अभिनव-ग्रन्थना को नाटक का उत्कर्ष मानकर चलने का प्रयास किया है। चमत्कार, जो नाटक की अन्विति का मूल तत्त्व है, उसको जीवन के साथ घटाकर यथार्थ-भावों को लाने की चेष्टा की है। वहाँ उसी में कल्पना का चमत्कार पाने की सतत चेष्टा में जीवन के भेदाभेद पहचानने का भी प्रयत्न है।

'स्त्री का हृदय' में उसी का विस्तार है। उन नाटकों में कल्पना की प्रौढ़ता भी आगई है। जीवन का विविध चित्रण भी उन नाटकों में तीक्ष्ण रूप से चमका है। केवल 'जवानी' प्रतीक नाटक के रूप में उद्धृत हुआ है। 'बड़े आदमी की मृत्यु' एक व्यंग्य है जो वास्तविकता का अपरूप होकर प्रादुर्भूत हुआ है। हमारे जीवन में जो कुछ भी है उसमें दिखावे का स्थान मनुष्य के जीवन से भी ऊँचा होगया है। और वह भी खासकर बुर्जुआ लोगों में। क्योंकि पूँजीवादी वर्ग स्वयं एक कृत्रिम रूप है मनुष्य का। वह पूँजी के असंख्य बनावटी रूपों में प्रकट होता है। 'स्त्री का हृदय' स्वयं एक आभिजात्य पुत्र के मिथ्याभिमान का अवास्तविक रूप है। यह अवास्तविकता धन और कुलीनता नाम की दो बीमारियों का लक्षण है। एक तरह से

धन से ही कुलीनता का रोग भी जन्म लेता है। इस प्रकार 'स्त्री का हृदय' नाटक संग्रह में मनुष्य के अवास्तविक विभिन्न रूपों का प्रति चित्रण है। अनुभूति ने उन चित्रों को प्रौढ़ से प्रौढ़तर बना दिया है।

'समस्या का अन्त' नौ एकांकी नाटकों का संग्रह है। इसमें मनुष्य की विविध प्रवृत्तियों का वास्तव और अवास्तव रूप में प्रस्फुटन हुआ है। 'वास्तव अवास्तव' से मेरा तात्पर्य समाज के विकृत अहं, और अहं-हीनता, से है। गिरती दीवारों में विकृत अहं का चित्रण है, समस्या का अन्त भी विकृत अहं का ही एक रूप है। और भी कई नाटक ऐसे हैं जो इस श्रेणी में आ सकते हैं। वस्तुत: विकृत अहं से जीवन में समाज में अवांच्छनीय संघर्ष उत्पन्न होते हैं। मनुष्य के वे संघर्ष समाज के और फिर राष्ट्र के संघर्षों का रूप ग्रहण करते हैं। उस विकृत अहं की उत्पत्ति विकृत शिक्षा और रूढ़ संस्कारों से होती है। संस्कृति भी इस दृष्टि से समाज के लिये विघातक बन जाती है। क्योंकि संस्कृति भी, यदि वह शुद्ध नहीं है तो समाज के मस्तिष्क में विकृत अहं के कीटाणु उत्पन्न करके उसे विनाशोन्मुख तथा कट्टर बना देती है। आज जो लोग बार-बार संस्कृति का नाम लेकर चिल्लाते हैं वे भी मानवता के उतने ही शत्रु हैं जितने कि कोई भी स्वार्थी व्यक्ति या सामाजिक वर्ग हो सकते हैं। 'युद्धं-देहि' का नारा लगाकर एक दूसरे के प्रति घृणा का भाव फैलाने वाले लोग अपने वर्ग को अकारण उकसाने के लिये जिन साधनों का सहारा लेते हैं उनमें धर्म के साथ संस्कृति भी एक विषाक्त बाण का काम देती है। 'समस्या का अन्त' भी उस संस्कृति का अमानवीय आचरण है जिसमें मद्रक और वामरथ दोनों गण भस्म होने के लिये तैयार होगये थे। उस संग्रह में 'जीवन' 'स्त्री का हृदय' के जवानी की तरह का नाटक है। वह

भी प्रतीक रूपक ही कहा जा सकता है। प्रतीक नाटकों का अपना महत्त्व है। प्रतीक नाटक जिन घटना तथ्यों का आधार लेकर जीवन की वास्तविकताओं की ओर संकेत करते हैं वहाँ लक्षितार्थ और व्यंग्यार्थ प्रच्छन्न वाच्यार्थ में ही लेखक को अभीष्ट होता है। उसकी संगति बौद्धिक होती हुई भी स्वयं कम चमत्कारपूर्ण नहीं होती। 'दो अतिथि,' 'पिशाचों का नाच', 'बीमार का इलाज', 'वापसी' आदि भी उद्देश्य के प्रति घटनाओं में तीक्ष्णत के साथ लिखे गये हैं।

मुझे खेद है 'पिशाचों के नाच' नाटक में मैं स्वयं विकृत अहं का शिकार होगया हूँ। किन्तु वह ऐसी अवस्था थी कि मैं श्मशान में जलती चिताओं की गरमी से झुलस उठा था। अन्यथा मैंने यत्न किया है कि अपने नाटककार के प्रति मैं सजग हूँ। वैसा ही प्रायः अन्य नाटकों में हुआ भी है। 'अहंहीनता' का एक ही चित्र है वह है मुन्शी अनोखेलाल इसीलिये वह व्यंग्य न होकर हास्य बन गया है। अहंहीनता स्वयं का पोषण करने में असमर्थ रहती है वह पाठक के मस्तिष्क में गुदगुदी पैदा करती है। वह गुदगुदी निश्चय ही मस्तिष्क की होती है हृदय की नहीं।

मैं उपयुक्त नाटकों का लेखा जोखा करने के लिये बाध्य हुआ हूँ वह केवल इसीलिये कि मेरे आलोचकों ने उक्त नाटकों के संबन्ध में कई प्रकार की भ्रान्त धारणायें बनाली हैं। कुछ आलोचकों ने तो निश्चय ही मेरे नाटकों को समझने में भूल की है। वे स्वयं वादग्रस्त होने के कारण वास्तविकता को खोज ही नहीं पाये और न मेरे नाटकों के मूल प्राणों को पहचान ही सके। उस दिन मलियालम तथा कन्नड़ में नाटकों के अनुवाद करने को उत्सुक उन दो सज्जनों से ज्ञात हुआ कि किस तरह उन्होंने मेरे नाटकों का सांगो-पांग अध्ययन किया है। जो दो

तीन तत्सम्बन्धी आलोचनात्मक लेख उन्होंने मुझे अनुवाद करके सुनाये उन्हें स्मरण करके अपने इन आलोचक पुंगवों पर हँसी भी आई खेद भी हुआ।

हिन्दी के वाद-ग्रही आलोचक का रूप मैंने इस संग्रह के 'विस्फोट' नामक नाटक में दिया है।

'धूम शिखा' में छः नये नाटक हैं, इनमें से प्रायः सभी, केवल 'विस्फोट' को छोड़कर रेडियो से प्रसारित भी हो चुके हैं और उनका स्वागत भी हुआ है।

आज जब कि प्रगतिवाद की मोहर लगने पर ही लेखकत्व और साहित्यिकता का प्रमाण पत्र मिलता है यह आवश्यक हो गया है कि मैं अपने विश्वासों को स्पष्ट कर दूँ। मैं मानता हूँ सच्चा प्रगतिवादी लेखक वह है जो अपने को किसी सिद्धान्त विशेष के लिये बेच नहीं देता। लेखक ही मानव समाज के भविष्य का द्रष्टा है। यदि वह किसी वर्ग से, दल से, सिद्धान्त विशेष से बँध जाता है। तो वह प्रोपेगेण्डिस्ट के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। साहित्य प्रोपेगण्डा से दूर की वस्तु है, और साहित्यिक जीवन की प्रगति विगति का निष्पक्ष विचारक जैसे वह सबका होते हुए भी तटस्थ रहकर मानव समाज की प्रकृति विकृति का आलोचक है वैसे ही वह किसी भी वाद से बँधकर अपने रूप को खो भी नहीं देता। उसके हृदय में मानव के प्रति सद्भावना का तीव्र लक्ष्य ही उसके अस्तित्व को सुरक्षित रखता है। उस सुरक्षा में ही वह जीवित रहकर बड़े दायित्व की पूर्ति में लगा रहता है।

इसीलिये न वह साम्राज्य वादी है न सोशलिस्ट और न कम्यूनिस्ट। उसका अपना वाद है और वह है विवेक पूर्ण मानवता वाद, जिसके लिये उसने कलम उठाई है, और जीवन के विकृत अंगों पर तीक्ष्ण प्रहार करने का सदुद्देश्य ग्रहण किया है।

और इसी दृष्टि से वह जहाँ सरकार का समर्थक है वहाँ जनता की उद्दण्डता का विरोधी भी। और इसके विपरीत भी। वह दोनों में एक दूसरे के द्वारा परस्पर हित के लिये किये गये प्रयत्नों की स्थायी समता का केन्द्र-विन्दु होकर अपने कृतित्व को सार्थक करता है, वह जीवन के पोष्यतत्त्वों को खोजकर मानव के सामने रखता है। यदि इस सृष्टि के अस्तित्व का कोई प्रयोजन है तो वह उसकी दृष्टि में किसी धर्म के अंतिम परिणाम स्वरूप व्यक्ति का मोक्ष नहीं है, जहाँ जाकर व्यक्ति नहीं लौटता, वह समाज का मोक्ष भी नहीं है या सारे समाज का सशरीर स्वर्ग जाना भी नहीं है, वह है इसी लोक को सारे समाज के लिये स्वर्ग बना देने की साधना का प्रवल समर्थन; जिसे वह अपने प्राणों से पुष्ट करके लोगों को चिरजीवी बनाने के प्रयोजन से करता है। ऐसी अवस्था में यदि वह किसी समाज अथवा वाद से बँध जाता है तो वह मनुष्य के प्रयत्न साध्य उस वाद के प्रति इतना अधिक रूढ़ हो जाता है कि उसके दोष भी उसे गुण दिखाई देने के कारण उसे साहित्यिक के महान् कर्त्तव्य से भ्रष्ट कर देते हैं। और वह हेय आदेय के प्रति जागरुक न रहकर उस सिपाही की तरह हो जाता है जो, कल जिनको पकड़कर जेल में डालता था, आज उनके गीत गाता है।

आज पुश्किन, चैखोव अलेक्सी टाल्सटाय, ल्यू टाल्सटाय का वह महत्त्व नहीं है जो सेराफिमोविच, चेपिज्जिन, जैसे उपन्यासकारों और स्तानिस्लाव्यस्की जैसे नाटककारों को प्राप्त है जिन्होंने केवल सोवियट सरकार के समर्थन में अभीष्ट समाज के निर्माण को अपना वैधानिक कर्त्तव्य मान रखा है।

इतने से यह नहीं समझना चाहिये कि कोई भी साहित्यिक रूसी कम्यूनिस्ट सरकार के समर्थन मात्र से कर्त्तव्य भ्रष्ट होगया। मेरा मत तो इतना ही है उसे किसी के हाथों अपने को बेच नहीं

देना चाहिये। उसका यह भी महत्त्व पूर्ण दायित्व है कि वह जिसका समर्थन करता है आवश्यकता पड़ने पर उसकी तीव्र आलोचना भी कर सके। और निष्पक्ष रहकर अपने साहित्यिक को सुरक्षित रख सके। फिर इसके लिये उसे चाहे जितना भी मूल्य क्यों न चुकाना पड़े।

जैसे न्यायाधीश निर्णय करते समय यह नहीं देखता कि अपराधी किस दल, किस वर्ग, किस वाद का व्यक्ति है वह तो सद्भावना से विवेक के साथ फैसला देता है और वादी-प्रतिवादी दोनों के दोष दिखाता है, दोनों में से अपराधी को दण्ड देता है। उसके मार्ग में न तो किसी धर्मविशेष का विश्वास, जिसका वह स्वयं आग्रही है बाधक होता है और न वह उससे प्रभावित ही होता है। वहाँ उसके सामने होती है केवल पाप तथा दण्ड विधान की व्यापक दृष्टि, समाज को अपराध के कीटाणुओं से मुक्त करने की भावना। इसीलिये मैं मानता हूँ निजी तौर से किसी मत में विश्वास रखते हुए भी वह साहित्य में न तो वह किसी धर्म का समर्थक है और न उसके आग्रह को लेकर प्रोपेगेण्डिस्ट।

सृष्टि के मूलतत्त्व जिस प्रकार अनंत शक्ति से ओत-प्रोत हैं और जिस प्रकार उनकी 'इदमित्थं' कह कर व्याख्या नहीं की जा सकती इसी तरह उस सृष्टि से निर्मित मनुष्य और उसकी प्रगति तथा उसके कल्याण की कुछ शब्दों द्वारा इयत्ता भी निर्धारित नहीं की जा सकती। और स्पष्ट शब्दों में यह कहना कि मनुष्य समाज एवं व्यक्ति का कल्याण केवल किन्हीं विशेष वादों एवं विचारों में सीमित है इसके आगे अथवा इसके अतिरिक्त मनुष्य के कल्याण का और कोई मार्ग ही नहीं है, साहित्यिक के विवेक को दबाना है, उसे रिश्वत देकर पथ-भ्रष्ट करना है। इस प्रकार के विश्वासों में साहित्यिक को नहीं

बाँधा जा सकता। साहित्यिक तत्कालीन समाज की क्रिया प्रति-क्रिया से उद्भूत भविष्य के अप्रकाशित मार्ग का सूक्ष्म द्रष्टा है। वह साहित्य में अपनी सूक्ष्म दर्शिनी प्रतिभा से मनुष्य मात्र के कल्याण का सद्भावना पूर्ण उद्देश्य लेकर जीवन की छान-बीन करता है और तत्कालीन समाज को डाक्टर की तरह चीर फाड़ करके उसे शुद्ध बनाता है।

प्रश्न यह है वाद भी तो साहित्यिक के मस्तिष्क की उपज है, उसमें भी तो मानव समाज के कल्याण की भावना है तो वह क्यों न उसी का समर्थन करे? ठीक है, वैसा उसे करना चाहिये। किन्तु निरपेक्ष दृष्टि से विवेक द्वारा। विवेक ही उसका 'गाइड' है। किन्तु साहित्यिक को फिर भी उससे बँध तो नहीं जाना चाहिये। मनुष्य जाति के प्रगति-पथ में स्थल-स्थल पर मार्ग दर्शक की आवश्यकता है, मैदान का मार्ग दर्शक पहाड़ी रास्तों का भी जानकार होगा ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता। जैसे लम्बी यात्रा में रेल के डिब्बे एक प्रकार से वैसे ही रहने पर भी हमें इंजन बदलने की आवश्यकता पड़ती है; शिमला पहुँचने के लिये जैसे कालका से आगे छोटे इंजन, छोटी गाड़ियों की आवश्यकता है, ठीक इसी तरह, मनुष्य समाज के परिस्थिति जन्य दुख रोगों के लिये भिन्न निदान और भिन्न औषधि, उप-चार की आवश्यकता है। साहित्यिक ही मानव समाज का वास्तविक डाक्टर हो सकता है। और अब जब मनुष्य अपेक्षा-कृत ज्ञानी होता जा रहा है उसके संघर्ष धर्मगत, सांस्कृतिक न होकर वर्गगत तथा विज्ञान मूलक होंगे उस अवस्था में जो भी लेखक निष्पक्ष होकर भविष्य दर्शन कर सकेगा वही मनुष्य जाति के कल्याण की एक मंजिल पार करा सकेगा।

जैसा कि मैंने अपने 'मुक्तिपथ नाटक में कहा है कि 'चलो अंधानुकरण मत करो, सोचो और प्रयोग करो।'

अब धर्म का वैयक्तिक है, राजनीति भी साहित्यिक के हाथों में आ रही है। फलतः साहित्यिक ही एक ऐसा व्यक्ति है जिसमें धर्म का आडम्बर नहीं है और नहीं है राजनीतिक कौटिल्य; उस अवस्था में वाद से बद्ध होकर वह पथ भ्रष्ट न हो जाय यही डर है।

धूम शिखा के नाटकों ने मेरी अनुभूति के द्वार को खटखटा कर निकलने की चेष्टा की है। वे अपने पात्रों के रूप में कुछ नये अभीष्ट चित्र उपस्थित कर सके हैं। बस, इतना ही—

१ नवम्बर, १६४६, उदयशंकर भट्ट
तिब्बिया कालेज,
दिल्ली।

क्या और कहाँ ?

धूम-शिखा

पात्र

मंदाकिनी—

साधना—

विपिन बाबू—आगन्तुक

(१६×१४ का साफ़-सुथरा कमरा। दक्षिण की दीवार के किनारे एक पलंग बिछा है। जिसके पैर पूर्व को और सिरहाना पश्चिम को है। पलंग के साथ दीवार में किताबों की अलमारी है। पश्चिम की तरफ भी एक अलमारी में कुछ दवा की शीशियाँ हैं। पलंग से कुछ दूर हटकर पूर्वाभिमुख सोफा-सेट एक फटे कालीन पर रखा है। बीच में छोटी मेज है। पलंग के सहारे भी सिरहाने की तरफ़ एक मेज पर कुछ दवा की शीशियां, थर्मामीटर, एक छोटा गिलास, एक पिर्च, कुछ पुड़ियाँ रखी हैं। पलंग के साथ ही एक कुर्सी। पूर्व की दीवार के बीच में दूसरे कमरे में जाने का दरवाजा है, जिस पर हरा पर्दा पड़ा है। दक्षिण की किताबों की अलमारी के ऊपर दो चित्र हैं—एक पुरुष का और दूसरा स्त्री का। देखने से ज्ञात होता है, मकान किसी साधारण मध्य-गृहस्थ का है। मंदाकिनी पलंग पर लट्ठे की सफेद चादर ओढ़े सीधी लेटी है। उसकी उम्र लगभग २६ वर्ष है। इकहरे बदन की लम्बी स्त्री। गोरा पीलिमा लिए हुए रंग। नख-शिख से सुन्दर, परन्तु बीमारी के कारण कुछ दुर्बल। खिचड़ी बाल। बड़ी-बड़ी आँखों में किसी अतीत की घटना की छाया। इस कारण सब-कुछ देखती हुई भी, मालूम होता है, ध्यान और नेत्र-चित्र किसी और तरफ हैं। मंदाकिनी के सिरहाने के साथ एक बहुत छोटे बालक का

चित्र है, वह उसे देखती है। वह बार-बार उसे देखती रहती है, फिर उलटकर रख देती है। कभी पैरों की तरफ़ फेंक देती है। फिर उठाकर देखने लगती है। फिर फेंक देती है। इस तरह कार्ड-साइज़ उस चित्र की आकृति बहुत-कुछ बिगड़ भी गई है। फिर भी बालक का चित्र इतना बिगड़ा नहीं है। उसका यही काम है, चित्र देखना, कुछ बड़बड़ाना और पटक देना। फिर कभी बैठ जाती है, कभी उत्तर की ओर शून्य दृष्टि से दर्शकों को देखने लगती है। मंदाकिनी पागल नहीं है, किन्तु कभी कभी उसकी चेष्टा दर्शकों के हृदय में भ्रम उत्पन्न कर देती है। फिर सावधान होकर आलमारी से कोई किताब निकालकर उसके दो-एक पृष्ठ उलट-पलटकर पढ़ती है, फिर रख देती है। कभी तकिये के सहारे बैठ कर बालों पर हाथ फेरती है। अपनी कलाइयों, उनकी सुनहरी चूड़ियों को देखती है, फिर गुम-सुम। फिर चित्र उठाकर देखने लगती है और उठाकर इतने जोर से फेंक देती है कि वह पूर्व की तरफ दीवार से जाकर टकराता है। इसी समय कुछ दूर ग्रामोफोन का एक रिकार्ड बज उठता है। मंदाकिनी तन्मय होकर सुनने लगती है, फिर एकदम 'नहीं, नहीं' कहकर कान बन्द कर लेती है। आँखें मींच लेती है। रिकार्ड प्रेमभरे गीत का है।)

मंदाकिनी—(अपने-आप) यह हृदय का गीत नहीं है। (खाँसना) मैंने कल्पना के पंखों पर उड़कर जीवन के ताजमहल का चित्र बनाया, प्राणों का विश्वास होमकर (खाँसना) जीवन की सुरभि-भीनी उषा में हृदय-मंदिर की लालसादेवी की प्रतिष्ठा की, (रुककर) हारिल पक्षी की तरह अनन्त आशा

के व्योम में उड़ी; किन्तु···किन्तु मेघों में चमचमाती विद्युत की तरह मेरा उल्लास, मेरी कामनाएँ, मेरे जीवन के स्वप्न लुप्त हो गए। ((चुप्पी) आज मेरी साँसें मेरी दीनता, मेरी कमजोरी की कहानी कहने को बार-बार निकलती हैं, (खाँसना) उठती हैं और वहीं किसी कोने में लीन हो जाती हैं। सूखी सरिता की रेत का एक-एक कण साधना के आलोक का सहारा पाकर कभी-कभी चमक उठता है। फिर वही रेत, जड़, निर्जीव रेत का कण। तुम्हें मैंने हृदय का सर्वस्व देकर, कल्पना, सत्य, सौन्दर्य, लालसा का आसव पिलाकर पाला था; किन्तु····किन्तु निष्ठुर, तुमने कमलिनी को ठुकरा दिया, पीस दिया, मसल डाला। ओह, जीवन भार हो गया है! (खाँसना) नक्षत्रागार की तरह मेरी अभिलाषाएँ जल उठी हैं, नहीं, नहीं, भस्म हो गई हैं! अब क्या शेष है—मरे हुए भैंसे के शरीर से कीड़ों के कुलबुलाने की तरह कुछ साँसों का आना और जाना! (चुप) शेष रात्रि के तारक दल की तरह धीरे-धीरे, पल-पल, क्षण-क्षण निष्प्रभ होते जाना। क्यों न इसी में जीवन का सुख मान लूँ। मैं सुखी हूँ। (खाँसना) अटक-अटककर प्राण जा रहे हैं। तटों से टकराती सरिता बह रही है, इसीसे साँसें सदा को बाहर जाने के लिए बाहर निकल कर फिर भीतर चली जाती हैं, जैसे वे निकलकर भागने का मार्ग ढूँढ़ रही हों। यह भी सुख है। (खाँसना) साधना, दवा दे जा, बहन! (नेपथ्य में—आई जीजी, अभी आई।) मैं जीना

चाहती हूँ री। यह गीत बन्द ही नहीं होता। कान फाड़े दे रहा है। न-जाने कैसे मूर्ख हैं लोग। जबरदस्ती लोगों के कानों में बिना चाहे रस भर देना चाहते हैं। (लेट जाती है।)

साधना—रामू ने दवा लाने में देर कर दी। उसी की प्रतीक्षा करती रही। (दवा देती है) कैसा जी है ?

मंदाकिनी (चुप रहकर)—लोग यह व्यर्थ कहते हैं कि तिमिर में आनंद नहीं होता। तिमिर का फैलाव ही उसका सुख है। (चित्र देखती है) चित्र भी तो जीवन का संकेत देता है, साधना !

साधना (पास जाकर) —क्या कह रही हो, कुछ समझ में नहीं आता। डाक्टर ने कहला भेजा है कि कल से इंजेक्शन लगा देंगे।

मंदाकिनी (चित्र की ओर देखती हुई)—कौन कह सकता है, चित्र का जीवन एकांकी नाटक की तरह अपने ध्येय के प्रति तीव्र नहीं होता, साधना !

(फिर रिकार्ड बज उठता है।)

मंदाकिनी—नहीं, नहीं, यह मेरे हृदय का गीत नहीं है। मेरे श्वासों की धूम-शिखा है। मैं नहीं सुनना चाहती, नहीं सुनना चाहती। (तकिये से कान बन्द कर लेती है। रिकार्ड बजना बन्द हो जाता है। वह उठकर बैठ जाती है और सामने की तस्वीर देखने लगती है।)

साधना—जीजी, कैसा जी है ? यह तुम्हारा पत्र है। भीतर

कार्निस पर रखा हुआ था। अचानक मेरी निगाह पड़ गई।

मंदाकिनी—पत्र, कैसा पत्र! मैंने पिछले एक वर्ष से पत्र पढ़ना-लिखना बन्द कर दिया है साधना! फेंक दो इसे। (खाँसती है)

साधना—फेंक दूँ, न-जाने कैसा पत्र है। क्या लिखा है। देख लो न एक बार। शायद किसी काम का हो।

मंदाकिनी—मुझे मालूम है, वह किसका पत्र होगा। अच्छा लाओ, देखूँ। (मंदाकिनी पत्र लेकर पढ़ने लगती है। पढ़ती रहती है। मुखाकृति पर कभी हर्ष, कभी शोक, कभी विषाद, कभी आश्चर्य छा जाता है। दस-पन्द्रह सेकिण्ड तक यही अवस्था रहती है। फिर पत्र उठाकर एक तरफ़ फेंक देती है। गुम-सुम हो जाती है। फिर सामने के चित्रों की ओर देखने लगती है।)

साधना—कैसा पत्र है? तुम तो एकदम गुम-सुम हो गईं।

मंदाकिनी—(चुप)

साधना (फिर थोड़ी देर बाद)—कैसा पत्र है, जीजी?

मंदाकिनी (चित्र पर निगाह जमाए हुए)—स्वर्ग-स्वप्नों का निमंत्रण है, साधना, प्रलय में छिन्न-भिन्न-लांछित-भूमि पर प्रासाद निर्माण करने का आवाहन है! (खाँसना)

साधना—(कुछ देर चुप रहकर)—क्या कहा, स्वर्ग-स्वप्नों का निमंत्रण! और क्या चाहिए। मनुष्य को इससे अधिक और क्या चाहिए। तुम पिछले एक वर्ष से रुग्ण हो, मध्याह्न में ही तुमने संध्या को निमंत्रण दे डाला है जीजी, यह क्या कोई अच्छी बात है? जीवन को आग में लपेट

कर हँसना तो जीवन की कला नहीं है। मैं भी तो सुनूँ, क्या लिखा है पत्र में।

मंदाकिनी (ध्यान में)—वह लिखा है, जो अब नहीं हो सकता, जो लौट नहीं सकता। नहीं अब नहीं। (लेटकर) वह आना चाहता है, एक बार मिलना चाहता है। किन्तु (तेज़ी से) इस कंकाल में अब क्या है? नहीं, मेरी आत्मा विषाद का काला विष पीकर सो गई है। अब उसमें हास नहीं है, उल्लास नहीं है मैं पतझड़ हूँ, साधना! (तीव्रता) यहाँ मधु-मास नहीं आ सकता। नहीं, अब नहीं। (खाँसना)

साधना (मंदाकिनी के बालों में हाथ फेरती हुई)—जीजी, बहुत मत बोलो।

मंदाकिनी—तुम जाओ साधना, आज ही रात की गाड़ी से चली जाओ। तुम कहाँ तक मेरा साथ दे सकोगी? मुझे मेरे भाग्य पर छोड़ दो। (खाँसती है और करवट बदल कर लेट जाती है। (दरवाज़ा खटखटाने की आवाज़)

साधना—कौन? अन्दर चले आइए। (बिखरे बाल, अपरूप-मुखाकृति, अस्तव्यस्त वेश में एक व्यक्ति आता है। उसके रूप को देखकर ज्ञात होता है, वह कभी सुन्दर रहा होगा। वयस २९ वर्ष।) कहिए?

आगन्तुक (थूक के घूँट निगलता-सा)—यह···यह···मैं कहता हूँ···(हाथ जोड़कर) नमस्ते?

साधना (खड़ी होकर उसका रूप देखती है)—आप किसको चाहते हैं? नमस्ते।

आगन्तुक (चारपाई पर मंदाकिनी को देखकर)—मैं मंदाकिनी देवी से मिलना चाहता हूँ। क्या यही हैं? सुना है, वे बीमार हैं।

साधना—जी हाँ, वे बीमार हैं। (थोड़ी देर दोनों चुपचाप खड़े रहते हैं) बैठ जाइए।

आगन्तुक (थोड़ी देर बैठ रहकर)—सो रही हैं।

साधना—कमज़ोरी है। आपको क्या काम है इनसे?

(आगन्तुक ध्यानमग्न-सा बैठा रहता है।)

साधना—(उधर जाकर, जिधर लेटी है)—जीजी, देखो।

आगन्तुक—सोने दीजिए। मैं बैठा हूँ। इनको यह कष्ट कब से है?

साधना—पिछले एक वर्ष से। अब तो...

(मंदाकिनी करवट बदलकर आगन्तुक को देखती है। उसके चेहरे पर कोई भी भावोदय नहीं होता—न हर्ष, न विषाद, न उपेक्षा, न घृणा।)

आगन्तुक (पास की कुर्सी के पास झुकने के लिए आगे बढ़ता है, फिर सहमकर पीछे हट जाता है, फिर गले के घूँट निगलने का प्रयत्न करता है)—मंदाकिनी, (ज़ोर से) मंदाकिनी दे... !

साधना—धीरे बोलिए, महाशय, जीजी!

(आगन्तुक फिर चुप हो जाता है)

मंदाकिनी—क्या है?

आगन्तुक—मंदाकिनी, कैसी हो?

मंदाकिनी—जैसी तुम चाहते थे। जरा तुम मेरे हाथ दबाओ साधना !

आगन्तुक—लाओ, मैं दबाता हूँ। (आगे बढ़ता है)

मंदाकिनी—तुम्हीं दबाओ साधना !

(आगन्तुक मंदाकिनी द्वारा पढ़ा हुआ पत्र नीचे पड़ा देख- कर उठा लेता है और उसे पढ़ने लगता है। साधना को उसकी यह चेष्टा अच्छी नहीं लगती।)

साधना—ज्ञात होता है, वेश की अस्तव्यस्तता से बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है।

आगन्तुक—यह मेरा ही लिखा हुआ पत्र है। मंदाकिनी...

(मंदाकिनी आगन्तुक की तरफ देखती है परन्तु शून्य दृष्टि से।)

आगन्तुक—मैं पिछले एक वर्ष से बराबर सोचता रहा हूँ। जितना ही मैं सोचता हूँ, उतना ही मेरा तुम्हारे प्रति आकर्षण प्रबल होता जाता है। मैं मानता हूँ, मैंने पाप किया है, किन्तु पाप का क्या कोई प्रायश्चित नहीं है ? परन्तु इसमें मेरा उतना अपराध नहीं है, मंदाकिनी ! मैं विवश था, पराधीन था, मुझे मजबूर कर दिया गया।

(मंदाकिनी स्त्री के चित्र की ओर देखती है।)

आगन्तुक—तुम मेरे प्रश्न का उत्तर चित्र से पूछना चाहती हो ? मैं स्वयं ही सब-कुछ स्पष्ट कर देने के लिए उद्यत होकर आया हूँ। मैं इस अवस्था में नहीं रह सकता। मुझे यह भार असह्य हो गया है। (तीव्रता) जीवन असह्य हो गया है। मैं इसका अन्त कर देना चाहता हूँ। तुम मेरी ओर देखो।

उस मनुष्य की ओर देखो, जिसने अपने जीवन में कभी मैला, सूती कपड़ा नहीं पहना, जिसने कार से नीचे कभी सड़क पर पैर नहीं रखा, जिसने कभी कोई कार्य अपने हाथ से नहीं किया; जिसने...

मंदाकिनी—(उठकर) मेरी तबीयत ठीक नहीं है, विपिन बाबू।

आगन्तुक (उसी आवेश में)—मैं जानता हूँ, मैं इसीलिए आया हूँ। मेरी भी तबीयत ठीक नहीं है, मंदाकिनी ! मैं भी जीवन से ऊब गया हूँ। फिर भी मरने से पूर्व मैं एक बार सब-कुछ कह डालना चाहता हूँ, सब-कुछ।

साधना—आपकी तबीयत ठीक न होने का यह आशय तो नहीं कि दूसरे को कष्ट दिया जाय।

आगन्तुक—मैं जानता हूँ, मंदाकिनी को क्या रोग है। हम दोनों एक ही रोग के रोगी हैं। मैंने निश्चय किया है कि यहाँ से निराश लौटने पर मैं...। यही मेरा निश्चय है।

मंदाकिनी (उठकर)—क्या आत्म-हत्या कर लोगे ? करलो आत्म-हत्या ! एक का नहीं, दो-दो प्राणियों का जीवन नष्ट करके आज आत्म-हत्या पर उतारू हुए हो विपिन बाबू, लज्जा नहीं आती आपको। न मैं कुछ सुनना चाहती हूँ न मुझे कुछ कहना है। मैं अपनी घुटन में ही घुटकर मर जाना चाहती हूँ। मैं जैसी हूँ मुझे वैसी ही पड़ने दो। (लेटती है)

आगन्तुक—तुम भूलती हो। मनुष्य का जीवन इसलिए नहीं

कि वह आशा की किरण पाकर अंधेरे में पड़ा उसका सुखो-पभोग न करे।

साधना—तुम लेटी रहो, जीजी! उठना मत। मैं अभी आई। (जाने लगती है)

मंदाकिनी—नहीं, साधना, तुम बैठो। (खाँसती है, खाँसते-खाँसते दम उखड़ जाता है। विपिन उठकर पीठपर हाथ फेरता है। बाएं हाथ में थूकने की चिलमची लेकर मंदाकिनी को थूकने देता है। फिर रख देता है।) तुम लोग बैठ जाओ, बैठ जाओ।

साधना—भयानक कष्ट है।

आगन्तुक—आतें खाँसते-खाँसते ऊपर को आ जाती हैं। किस डाक्टर का इलाज हो रहा है? मैं इन्हें पहाड़ पर ले जाने आया हूँ। वहाँ इनकी तबीयत ठीक हो जायगी।

साधना—वही रजनी भट्टाचार्य का तो। डाक्टर भी कहता है भुआली चली जाओ, दो-तीन महीनों में ठीक हो जाओगी।

आगन्तुक—फिर?

साधना—जाती ही नहीं। मैं तो बहुत कहती हूँ। कुछ...

आगन्तुक (चुप रहकर सोचने लगता है)—मुझे आज्ञा दो, तो मैं तुम्हारी सेवा के लिए चल सकता हूँ मंदाकिनी! मुझे इतना ही सहारा दो। मैं और कुछ नहीं चाहता। मैं तुम्हें ले चलूँगा। (खाट के सिराहने बैठता है)

मंदाकिनी—नहीं, नहीं, मैं नहीं जा सकती।

साधना—जीजी, विपिन बाबू का प्रस्ताव अनुचित नहीं है,

जीवन सुख के लिए है, अपने-आप बनाए कष्ट भोगने के लिए नहीं है।

(मंदाकिनी चुप रहती है।)

आगन्तुक—मैं जानता हूँ, तुम्हारी बीमारी क्या है, मंदाकिनी ! यह केवल मेरी सेवा से ही ठीक हो सकती है। तुम मुझे अवसर दो, जिससे मेरी दग्ध आत्मा को शांति मिले। मैं जल रहा हूँ, मंदाकिनी। मैं हृदय की खुजली से परेशान हूँ। जितना ही जलन बुझाने के लिए खुजलाता हूँ उतनी ही यह बढ़ती जाती है।

मंदाकिनी—मेरी बहन का चित्र अभी तक मेरे सामने है। उसका भोला मुख अब भी मुझसे तुम्हारी कृतघ्नता की कहानी कह रहा है। तुम्हीं ने उसे मर जाने दिया। तुम्हींने उस निरपराध बालिका को फुसला कर उसका सब-कुछ नष्ट कर दिया। (रुककर) तुम्हीं ने उसे मार डाला। (खाँसना) अब मेरे पास आए हो, मेरे पास ! मैं जीवन के किनारे पर मरण-सागर की लहरें गिन रही हूँ। मैं बहुत दूर निकल आई हूँ, विपिन बाबू ! नहीं, अब नहीं। एक दिन मैंने तुम्हें अपना सब-कुछ दे डाला था। किन्तु तुमको उतने से संतोष नहीं हुआ। तुमने मेरा निरादर करके, मेरा अपमान करके, मुझे ठुकराकर मेरी बहन को पाने का यत्न किया। (खाँसना) उसे फुसलाकर अपना लिया, मैं देखती रही। मेरा प्राण रोता रहा और तुमने हँसकर उसे आलिंगन-पाश में बाँधकर मेरा सर्वनाश कर डाला। (खाँसती है।)

साधना—बहुत मत बोलो, जीजी !

मंदाकिनी—(उठकर) उसकी मृत्यु के बाद तुमने मेरी तरफ झाँका, मुझे अपनाने को घर के चक्कर लगाने शुरू किए, पत्र डाले, अनुनय-विनय की और आज तुम फिर मुझ अभागी से मिलने आए हो ! (खाँसना) नहीं, साधना, आज मुझे सब-कुछ कह लेने दो। वर्षों का गुबार मेरे हृदय में भरा हुआ है, मुझे निकाल लेने दो। प्राणों की एक-एक कड़ी में अटका हुआ तिक्तता, कटुता का विष बाहर उगल देने दो।

आगन्तुक—मैं भी सुनने आया हूँ। एक ही दिशा में बहने वाली दो नदियों की धाराएँ कुहरे से पूर्ण हैं। वे एक-दूसरे को नहीं देख पातीं। उनका भ्रम, अविश्वास का कुहरा घट जाने दो, साधना ! मेरा विश्वास है, मैं मंदाकिनी को प्रसन्न कर सकूँगा, उसके रोग को दूर कर सकूँगा।

साधना—मैं केवल यही चाहती हूँ कि तुम दोनों फिर विश्वास, दृढ़ता के साथ एक-दूसरे को पहचानो। जीजी, विपिन बाबू...मैं क्या कहूँ ?

आगन्तुक—हम दोनों धीरे-धीरे स्वर्ग की सीढ़ियों पर चढ़ रहे थे। रजनीगंधा की भीनी सुरभि से आप्यायित हम दोनों की प्राण-सुषमा मस्त होकर झूम उठी थी...

मंदाकिनी—कि इसी बीच उनमें से एक यात्री मालती की सुरभि में मस्त होकर ठिठक गया। उसने साथी को सीढ़ियों से नीचे धकेल नवीन लता का आलिंगन करके उसके साथ,

नवीन उषा के साथ, फिर (खाँसना) यात्रा प्रारम्भ कर दी। वह भूलगया, उसमें प्रेम नहीं, वासना थी; हृदय नहीं, दुर्बलता की धड़कन थी; वास्तविकता नहीं, उसका आभास था। उसका स्वर्ग स्वार्थ था, उसका सौन्दर्य वासनाजन्य था, उसकी आत्मा का शिव मिथ्या से अभिभूत था। वह प्रपंच था, (तीव्रता मे) छल था, प्रवंचना थी, मिथ्यात्व था, अवास्तविक, धूमायित, स्वात्म-प्रतारक था। वह...वह... (लेट जाती है तथा बहन के चित्र की तरफ़ देखने लगती है) तू ही बता, क्या मैं झूठ कह रही हूँ ?

आगन्तुक (खाट से उठ कर कुर्सी पर बैठता हुआ)—इसमें कुछ भी असत्य नहीं है, मंदाकिनी, काश तुम अपनी बहन के हृदय को पहचान सकतीं। उन्होंने मुझसे धीरे-धीरे कहना शुरू किया, बहन एक और व्यक्ति से प्रेम करने लगी हैं। उन्होंने कई बार कहा कि तुम उन्हें अच्छे नहीं लगते, तुम्हारी आदतों में बहुत बुरी आदत यह है कि तुम अनुचित प्रशंसा करते हो, झूठ बोलते हो। मुझे पहले इन बातों पर विश्वास नहीं हुआ। पर उस दिन जब मैं सायंकाल तुम्हारे पास आया, तो तुमने कहा— तुम्हें इस तरह नहीं आना चाहिए, तुम देख नहीं रहे कि मैं किसी सज्जन से बातें कर रही हूँ। और तुमने मुझे न बैठने को कहा, न प्रतीक्षा करने को ही। मैं बाहर निकला, उस समय तुम्हारी बहन ने कहा, देख लो, जो मैंने कहा, क्या झूठ है ?

मंदाकिनी—हाँ, झूठ है, सब झूठ है। उसी ने मुझसे कहा—विपिन बाबू कहते हैं कि मंदाकिनी मेरी दासी है, मैं उसे चाहे जैसे घुमा सकता हूँ। 'दासी' शब्द मुझे बहुत अखरा। मैं किसी को अपना पति मान सकती हूँ, उसकी दासी नहीं बन सकती। इसके साथ ही तुम मेरे कमरे में आ गए और मेरे मुँह से वे शब्द निकल गए। इसके बाद बहन ने कहा—विपिन बाबू तुम्हें असभ्य, गँवार कह कर गए हैं। मेरे आत्माभिमान को ठेस लगी। मैंने इसके बाद एक सप्ताह तक न तुम्हें बुलाया, न तुमसे मिली। तुम्हीं बताओ, इसमें मेरा क्या दोष है? (खाँसती है)

आगन्तुक—यह बात सर्वथा मिथ्या है कि मैंने तुम्हारे प्रति अपशब्द कहे। हाँ, कमला के दिए तुम्हारे संदेश ने मेरे हृदय को आघात अवश्य पहुँचाया। फिर भी मैं प्रति दिन जाता रहा, तब कमला ने कहा—बहन तुमसे मिलना नहीं चाहतीं। तुम्हीं मूर्ख हो जो उनके पीछे पड़े हो। फिर भी मैंने सुना अनसुना कर दिया। किन्तु तुम से भेंट नहीं हो सकी।

मंदाकिनी—(उठकर) उन दिनों कालेज में पारितोषिक-वितरण की इन्चार्ज होने के नाते मुझे रात के आठ-आठ बजे तक कालेज में रहना होता था। जब मैं घर आकर कमला से तुम्हारे आने के सम्बन्ध में पूछती, तो उत्तर मिलता—विपिन बाबू कहते हैं कि मैं ऐसी हजार स्त्रियों से विवाह कर सकता हूँ। (खाँसना) मुझे दुःख हुआ। पारितोषिक-वितरणोत्सव के

आगन्तुक—उसी का मुझे दुख है मंदाकिनी। मैं इतना विमूढ़ क्यों हो गया था? क्यों मैंने एक वार तुमसे मिलने की चेष्टा नहीं की? किन्तु मेरे यौवन ने मुझे अन्धा बना दिया था। मेरे अभिमान ने मुझे तर्कहीन, हृदयहीन, ज्ञानहीन, विवेकहीन कर डाला था। मुझे उसी समय विष खाकर मर जाना चाहिए था। हाय, मैंने क्यों जीवन धारण किया! मुझ नारकीय को यह दिन देखने से पूर्व…। यही मेरा सच-मुच का अपराध था। मंदाकिनी, मैं सभी कुछ भोगने को तैयार हूँ। तुम मुझे दण्ड दो। तुम मुझे विष दो, मैं पी लूँगा। किन्तु मैं विवश था। मुझे समझाया गया कि मंदाकिनी मेरी शक्ल नहीं देखना चाहती। उनकी दृष्टि में मनुष्य ही नहीं, मैं पशु से भी गया-बीता हूँ। फिर किस बूते पर मैं तुमसे मिलता? इसीलिए मैंने आर्य-समाज-मंदिर में जाकर कमला से विवाह कर लिया।

मंदाकिनी—उसके बाद कमला मुझे दिखाई नहीं दी। उस दिन जब मुझे ज्ञात हुआ कि कमला अस्पताल में भयानक रूप से बीमार है, उसके बचने की कोई आशा नहीं है, तभी मेरा गर्व विगलित हुआ और मैं अस्पताल गई। वहाँ जाकर देखा, संज्ञाहीन कमला बिस्तर पर पड़ी है; यह चित्र (बालक का) उसके सिरहाने रखा हुआ है। (खाँसना) मैं बहुत देर तक डाक्टरों की प्रतीक्षा करती बैठी रही। नर्सें चुप थीं। उन्होंने बताया अवस्था अच्छी नहीं है। मैं रात-भर बैठी रही। जब तुम आए, तब मैं छिप गई।

आगन्तुक—क्यों ?

मंदाकिनी—(थोड़ी देर चुप रह कर) क्योंकि मैं तुमसे घृणा करती थी। और तुम्हें निरंतर वहाँ बैठा समझकर उल्टे पाँव लौट आई। घर आकर मैं रात-भर रोती रही। सवेरे फिर गई किन्तु उस समय उसको वहाँ से हटा दिया गया था—वह मर चुकी थी। मैं अपनी एक सखी के साथ श्मशान गई और दूर से उसकी चिता को नमस्कार करके चली आई।

आगन्तुक—मैंने श्मशान में तुम्हें देखा था।

मंदाकिनी—फिर भी तुम मुझसे नहीं मिले ?

आगन्तुक—वही तो, वही तो मुझे दुख है कि उस समय मैं तुमसे क्यों नहीं मिला। किन्तु मैं उस समय इतना दुःखाभिभूत था कि मेरा विवेक ध्वस्त हो गया। मैंने समझा तुम केवल अपनी बहन को देखने आई हो, अन्तिम बार उसकी चिता के दर्शन करने आई हो। यही सोचकर मैं तुमसे नहीं मिला।

मंदाकिनी—जाने दो उन बातों को, विपिन बाबू !

आगन्तुक—उसके बाद जब मैंने तुम्हारी सखी इला से सारा वृत्तान्त सुना, तभी से मेरा मन तुम से मिलने को आतुर हो उठा। अब मैं चाहता हूँ, तुम भुआली चल कर रहो और मुझे प्रायश्चित्त-स्वरूप अपनी सेवा करने दो। नहीं तो मेरी आत्मा को इस जीवन में नहीं, जन्मजन्मांतर में भी शान्ति नहीं मिलेगी। एक बार कह दो कि तुमने मेरा अपराध क्षमा कर दिया।

मंदाकिनी—व्यर्थ है, विपिन बाबू! क्यों नहीं मेरी इस बहन साधना से ....

साधना—क्या बक रही हो, जीजी!

मंदाकिनी—विपिन बाबू असंख्य सम्पत्ति के स्वामी हैं साधना! और मैं कितने दिन की हूँ?

आगन्तुक—व्यंग्य मत करो मंदाकिनी! मैं स्वयं अपने पापों से जल रहा हूँ। क्षमा दान करो देवि! मैं केवल तुम्हें चाहता हूँ। (झुक जाता है)

मंदाकिनी—मैं बीमार हूँ। मेरा सौन्दर्य भी नष्ट हो गया है।

आगन्तुक—काश, मैं तुम्हें अपना हृदय चीरकर दिखा पाता मंदाकिनी! क्या तुम मुझे क्षमा न करोगी? मैं केवल तुम्हें चाहता हूँ प्रिये! एक बार कहो तुमने मुझे क्षमा कर दिया और मुझे अपनी सेवा का अवसर दो। मेरी सारी सम्पत्ति तुम्हारे चरणों पर न्यौछावर है।

मंदाकिनी—मुझे क्षय हो गया है। खाँसी में रक्त आता है। कभी २ रक्त वमन भी होता है। मैं निर्बल हूँ, असुन्दर हूँ विपिन!

आगन्तुक—मुझे सब स्वीकार है। मैं तुम्हारी सेवा करूँगा। मैं वासना का भूखा नहीं हूँ मंदाकिनी मुझे दृष्टिदान दो प्रिये! मैं अभी तुम्हारी यात्रा का प्रबन्ध करता हूँ। बोलो।

मंदाकिनी—मुर्दे को ढोकर क्या करोगे, विपिन बाबू! मैं मुर्दा हूँ।

आगन्तुक—मैं उसे जीवित कर लूँगा मंदाकिनी, तुम्हारे एक बार 'हाँ' करने-भर की देर है।

साधना—बहन, विपिन बाबू आदमी नहीं, देवता हैं।

आगन्तुक—मेरे जीवन पर दया करो। मैं तुम्हें जीवन दूँगा। भरसक सुखी रखूँगा। तुम्हारे सुख में मेरा सुख है, मेरी शान्ति है, बोलो, एक बार कह दो। बस, कहने-भर की देर है। मैं डाक्टर को भी साथ ले चलूँगा मंदाकिनी!

मंदाकिनी—मुझे विश्वास नहीं कि मैं अधिक दिन जीऊँगी, विपिन!

आगन्तुक—मुझे विश्वास है, मैं भविष्य के गर्भ में आलोकित सुख-राशि देख रहा हूँ मंदाकिनी!

(मंदाकिनी चुप रहती है)

साधना—प्रस्ताव अनुचित नहीं है। डाक्टर कह रहे हैं तुम ठीक हो जाओगी।

आगन्तुक—अभी कुछ नहीं बिगड़ा है मंदाकिनी! रात के नौ बजे गाड़ी जाती है।

मंदाकिनी—जीवन किस को प्रिय नहीं होता विपिन बाबू? तो ...तो... ?

आगन्तुक—हाँ, मंदाकिनी, प्राणवाही संतत स्वर तुम्हें जीवन के स्वर्ग की ओर पुकार रहा है। चलो. मैं अभी एम्बुलेंस का प्रबन्ध करता हूँ।

मंदाकिनी—दोपहर की लू में उड़ते हुए बगूलों में मेरी छाया हँसती देख पड़ रही है। परन्तु...

साधना—मैं स्वयं भुआली तक तुम्हारे साथ चलूँगी जीजी!

मंदाकिनी—चलूँ, चलूँ तो क्या? (चुप रहती है) ठहरो, मुझे सोच लेने दो।

आगन्तुक—मेरे हृदय के स्तर-स्तर से विश्वास उठकर कह रहा है कि तुम ठीक हो जाओगी। तुम्हें कोई कष्ट न होगा प्रिये ! मैं एम्बुलेंस का प्रबन्ध करने जाता हूँ। (उठने लगता है)

मंदाकिनी—(ध्यानस्थ-सी होकर) ठहरो ! (चुपचाप बहन के चित्र की ओर देखती रहती है। देखती ही रहती है। कभी उसके चेहरे पर प्रकाश की मुस्कराहट आलोकित हो उठती है, फिर धीरे-धीरे विषाद की छाया उठती दिखाई देती है। तीन-चार सेकिण्ड तक सकपके की-सी हालत रहती है, फिर एकदम उसके चेहरे से दृढ़ता के चिह्न प्रतिलक्षित होने लगते हैं। फिर जैसे सागर में डूब गई हो, ऐसी तन्मयता हो जाती है। दोनों व्यक्ति सकपके की हालत में साँस साधे उसकी चेष्टा देखते हैं। वह जैसे जाग उठती है।) बहन की आँखों में दया, करुणा की प्रश्नसूचक लहरें उठ रही हैं। मुझे बहन की आँखों में आँसू छलछलाते दिखाई देते हैं। चित्र के हृदय की धड़कन बढ़ रही है, देख नहीं रहे विपिन बाबू ! देख नहीं रहे...

आगन्तुक—यह तुम्हारी कल्पना का चित्र है मंदाकिनी ! जैसे बालकों को अँधेरे में भूत दिखाई देता है, निर्जन अन्धकार में कोने में मनुष्य खड़ा दिखाई देता है। तुम स्वस्थ होकर मेरी बात पर विचार करो। मैं झूठ नहीं कह रहा हूँ। विश्वास करो, प्रिये ! मेरे जीवन की नौका मेरे ही पाप के भँवर में डूबने जा रही है। मेरे विश्वासों की नीवें हिल उठी हैं, मेरी आस्था मुझे धोखा देने को उद्यत है। मुझे सहारा दो मंदाकिनी, मुझे अपने पाप का प्रायश्चित्त करने

दो। मैं डूब रहा हूँ, मुझे बचाओ।

साधना—शान्त हो, विपिन बाबू!

आगन्तुक—मुझे अवसर दो प्रिये!

मंदाकिनी—अवसर दूँ! तुम्हारे जीवन की नौका को पापों के भँवर में डूबने से बचाऊँ! ठहरो, मुझे सोचने दो।

आगन्तुक—हाँ, मंदाकिनी!

साधना—हाँ, जीजी! विपिन बाबू पर दया करो। इसी में तुम्हारा भी कल्याण है।

मंदाकिनी—(ध्यानमग्न हो जाती है। जैसे विचारों के गहरे सागर में डूब गई हो; जैसे तर्क-वितर्क, संकल्प-विकल्प, अन्धकार और प्रकाश के दोनों छोर उसे दिखाई दे रहे हों; जैसे एक बाल के हेर-फेर से किनारे की नौका इधर-उधर हो रही हो। वह सोचती है, सोचती ही रहती है। एकदम)—नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं नहीं जाऊँगी। तुम जाओ विपिन बाबू, अब यहाँ कभी मत आना। जाओ। मुझ में दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष की तहों पर उठी हुई जीवन की नींवों पर अब प्रासाद खड़े करने का साहस नहीं है। कुहेलिका में सोते हुए धूमिल स्वप्नों को उत्तंरग होकर तुम्हारे प्रकाश से छिन्न-भिन्न करने की अभिलाषा नहीं है। तिल-तिल करके बढ़ती हुई दावाग्नि को एक चूल्लू पानी डालकर बुझाने की आकांक्षा नहीं है। मैं तिल-तिलकर प्राणों की धड़कन को घुटने का तिक्त आवाहन दे चुकी हूँ। मुझे जाने दो, मुझे सहने दो यह व्यथा। बहन कमला के लिए, मेरे लिए, अपने लिए

मुझे मेरी दशा पर छोड़ दो। जाओ, जाओ-ऽ-ऽ-ऽ।

(खाट पर गिर पड़ती है, नेपथ्य में भयंकर स्वर गूँज उठता है। विपिन पराजित-सा चुप-चाप उठकर चल देता है। साधना जड़-मूक की तरह देखती रहती है। दूर तक साधना की आवाज़ गूँजती रहती है—गूँजती रहती है—विपिन बाबू ... !)

॥ समाप्त ॥

विस्फोट

पात्र

अपरा—नवीन कवयित्री

हरिहर—छायावादी आलोचक

प्रद्युम्न—छायावादी कवि और आलोचक

उमापति—गांधीवादी आलोचक

सिद्धनाथ—प्रगतिवादी आलोचक

संपादक—'साधना' मासिक पत्रिका का

शान्तिस्वरूप—जिज्ञासु तथा कवि

श्रोता, छेदी नौकर आदि

[स्थान—एक बंगले का कमरा। समय—शाम के साढ़े पाँच बजे। अपरादेवी के बंगले का सुसज्जित कमरा। आज सायंकाल साढ़े छः बजे से नगर की एकमात्र हिन्दी-साहित्य-परिषद का अधिवेशन होने के कारण कमरे में कुर्सियों और काउचों के बजाय कालीनों और चादरों द्वारा कमरे को सजाया गया है। किनारे-किनारे कई गाव तकिए रख दिए गए हैं। उत्तराभिमुख दीवार के साथ छोटी टेबिल पर कुछ मासिक तथा साप्ताहिक पत्र रखे हैं। कमरे के दोनों दरवाजे बाहर बरामदे की ओर खुलते हैं और एक दरवाजा पश्चिम की तरफ है। धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ से अपरादेवी एक नौकर के साथ प्रवेश करती है। अपरा का सुडौल, स्वस्थ, गौर, सुन्दर शरीर, रुचिपूर्ण परिधान। वयस लगभग सत्ताइस-अट्ठाइस। हाथ में एक छोटी-सी कविता की कापी।]

अपरा—छेदी, हाँ, ठीक है। यह टेबिल ज़रा इधर और सरका दो और देखो, कानिस्त के फूलदानों को ज़रा पीछे हटा दो। ऐसा न हो, ये उठते-बैठते किसी के सिर पर आ गिरें!

छेदी—जी! (वैसा ही करता है।)

अपरा—ठीक है। हाँ, तो अब क्या रह गया?

छेदी—आपने चाय तैयार करने को कहा था न?

अपरा—हाँ, हाँ, चाय तो तैयार होगी ही। यह सामने की

सिकुड़न ठीक कर दो। (वैसा ठीक करने पर) हाँ, अब ठीक है। मेरा ख़याल है, मैंने तुम से कुछ और भी कहा था।

छेदी—मिठाई, सरकार !

अपरा—अरे मूर्ख, मिठाई तो है ही। हाँ, याद आया। (आगे बढ़कर) देखो, वह सिगरेट का डिब्बा, दियासलाई और राख झाड़ने की ट्रे लाकर रख दो। (हाथ की घड़ी देखकर) छः बजकर पैंतीस मिनट हो गए हैं। अभी तक कोई नहीं आया। आने ही वाले होंगे। (इसी समय हरिहर का प्रवेश) आइये हरिहरजी, पधारिये।

हरिहर—अभी और कोई नहीं आया ?

अपरा—आ रहे होंगे। समय तो हो गया है, आप बैठिए। गर्मी है, प्यास तो लगी होगी। छेदी, ओ छेदी ! कहिए, शरबत पीजिएगा या लेमोनेड ? लेमोनेड पीजिए। छेदी, ओ छेदी ! देखो, साहब के लिए लेमोनेड लाओ।

(छेदी जाता है।)

हरिहर—तो आप आज कौन-सी कविता सुनायेंगी ?

अपरा—(लज्जा संकोच से) मैं क्या जानूँ कविता, वैसे ही कुछ लिख लेती हूँ।

हरिहर—नहीं, नहीं, ऐसी बात नहीं है। जैसा आपका रूप, सौन्दर्य है, कविता भी वैसी ही है। उस दिन वाली कविता ने तो रंग जमा दिया था। मुझे नहीं मालूम था कि आप ऐसा सुन्दर लिख लेती हैं।

अपरा—आपकी कृपा है हरिहरजी, अन्यथा मैं क्या हूँ ? आप

तो बहुत बड़े आलोचक हैं। जिस पर आपकी कृपा हो···
मैं चाहती हूँ···(छेदी लेमोनेड लाकर देता है)

हरिहर—(गिलास लेकर पीता हुआ) मैं तो आज ही आपके बंगले पर आया। स्थान बड़ा रमणीक है।

अपरा—यह कोठी हमने पिछले साल बनवाई है। मैं चाहती हूँ, अपनी इन तुकबन्दियों को पुस्तकाकार छपवा दूँ। मेरी सहेलियाँ बहुत ज़ोर दे रही हैं।

हरिहर—अवश्य, अवश्य। भला, यह भी कोई कहने की बात है। (छेदी से) ऐ, देखो !

अपरा—यह गिलास ले जाओ, छेदी !

हरिहर—रमणी से ही स्थान रमणीक बनता है। ज्ञात होता है, प्राचीन आचार्यों ने रमणीक का जो 'सुन्दर' अर्थ में प्रयोग किया है, वह रमणी के कारण ही।

अपरा—(गर्व, मुस्कराहट के साथ) खूब ! क्या व्याख्या की है आपने ! किन्तु मेरे घर के लिए तो यह व्याख्या···

हरिहर—अपरादेवी, आप सचमुच अपरा हैं। कविता में जिस नारी-सौंदर्य की कवि कल्पना करता है, आलोचक जिस सौंदर्य-वर्णन की कवि से आशा करता है, वह बाह्य दृष्टि से आपमें है।

अपरा—और अन्तर्दृष्टि से ?

हरिहर—(झेंपकर) बाह्य से ही तो अन्तर की परीक्षा होती है, जैसे धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है।

अपरा—(वक्रिमा से) तो मेरा रूप धुएँ के समान हुआ (जैसे कुछ नाराज़ हो गई हो) !

हरिहर—(घबराकर) नहीं, नहीं, हरगिज़ नहीं। आप बिल्कुल ग़लत समझीं। यह तो दृष्टान्त है यहाँ केवल कार्य-कारण-भाव से सम्बन्ध कहा है मैंने। फिर भी मुझे यह कहना चाहिए, जैसे बिजली के प्रकाश को देखकर उसके अंतरंग का ज्ञान किया जाय।

अपरा—क्या आप मेरी कविताओं पर एक छोटी-सी भूमिका लिख देने की कृपा करेंगे ?

हरिहर—अवश्य, अवश्य। भला, आप ऐसा क्यों कहती हैं अपरादेवी ? आपकी कविताओं पर लेख भी लिखूँगा। आप देखेंगी, थोड़े ही दिनों में आपकी गणना...[प्रद्युम्न, उमापति, सिद्धनाथ और शान्तिस्वरूप का प्रवेश। प्रद्युम्न हरिहर की तरह छायावादी कवि और आलोचक है। उमापति गांधीवादी लेखक और कहानीकार है। सिद्धनाथ प्रगतिवादी है। शान्तिस्वरूप कवि है। इसके साथ कुछ अन्य सदस्य भी प्रवेश करते हैं। हरिहर अपरा से वैसे ही बातें करता हुआ] हाँ, तो मैं आपसे कह रहा था कि कला जीवन-सापेक्ष्य है। जब तक दोनों में आधार-आधेय-सम्बन्ध होगा...

प्रद्युम्न—(बैठते हुए) यों कहो, कला ही जीवन है।

उमापति—गांधीवाद जीवन को ही कला मानता है। उसमें आधार-आधेय-सम्बन्ध के लिए स्थान ही नहीं है।

हरिहर—अपना अपना मत है, अपरादेवी जी ! मैं कला को जीवन-सापेक्ष्य मानता हूँ। कला जीवन का प्रत्यक्षीकरण है। कलाहीन जीवन प्रगतिवाद है। (सब हँसते हैं।)

सिद्धनाथ—(तिलमिलाकर) तुमने प्रगतिवाद को समझा ही नहीं हरिहर ! तुम्हारा अध्ययन अधूरा है। एक छायावादी-आलोचक प्रगतिवाद के सम्बन्ध में इससे अधिक भ्रान्त-धारणा नहीं बना सकता।

उमापति—प्रगतिवाद से तुम्हारा क्या तात्पर्य है ? गांधीवाद भी सब से बड़ा प्रगतिवाद है।

प्रद्युम्न—गांधीवादी भी प्रगतिवादी हो सकता है, छायावादी भी।

सिद्धनाथ—गांधीवाद को प्रगतिवादी मानना प्रगतिवाद का अपमान है। वह तो एकमात्र प्राचीनतावादी है। पुराने समय को फिर से लाने की कल्पना करनेवाला, मशीन-युग का विरोधी।

शान्तिस्वरूप—(बगल से एक मासिकपत्र निकालकर) मैं आप लोगों से एक बात पूछना चाहता हूँ।

हरिहर—हाँ, आप सब लोग आ गए हैं, कार्यवाही प्रारम्भ होनी चाहिए।

शान्तिस्वरूप—आप सब आलोचक यहाँ बैठे हैं, इसीलिए मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ। (सारे आलोचक इसे अपना गौरव समझते हैं।)

सब—हाँ-हाँ, पूछिए न। हमारी सभा का एक उद्देश्य यह भी

है कि साहित्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा-पूर्त्ति की जाय।

अपरादेवी—सभापति का निर्वाचन कर लीजिये। (दो-तीन स्त्रियों का प्रवेश) आओ बहन, आओ। इधर बैठो।

शान्तिस्वरूप—इस युग के श्रेष्ठ कवि नगेश जी की यह कविता 'साधना' के नये अंक में प्रकाशित हुई है।

हरिहर—मैंने वह कविता पढ़ी है, सुन्दर कविता है।

प्रद्युम्न—घोर छायावादी, घोर क्रान्तिकारी।

उमापति—वह गांधीवाद का श्रेष्ठ उदाहरण है।

सिद्धनाथ—आँख खोलकर पढ़िए, वह एकदम प्रगतिवादी कविता है।

शान्तिस्वरूप—हो सकता है, वह गांधीवादी, छायावादी अथवा प्रगतिवादी कविता हो, मैं उसका अर्थ जानना चाहता हूँ।

एक आवाज़—कविता का अर्थ समझना हो, तो स्कूल में जाइए साहब, यह पाठशाला नहीं है।

दूसरी आवाज़—विद्वद्गोष्ठी में किसी बात को समझना बुरा तो नहीं है।

तीसरी आवाज़—हरिहरजी हिन्दी के श्रेष्ठ आलोचक हैं।

पहली आवाज़—प्रद्युम्न जी भी किसी से कम नहीं हैं।

चौथी आवाज़—आलोचक तो बस एक है सिद्धनाथ कामरेड!

शान्तिस्वरूप—भाइयो, मैं जानता हूँ, यह पाठशाला नहीं है; किन्तु यह व्यर्थ समय खोने का स्थान भी नहीं है।

सौभाग्य से इस समय हिन्दी के श्रेष्ठ आलोचक उपस्थित हैं यदि आप आज्ञा दें, तो मैं आपसे निवेदन करूँगा कि उक्त कविता पर अपनी सम्मति दें। उक्त कविता पर कई प्रकार के मत हैं, उसका अर्थ समझा दें।

कुछ लोग—अवश्य, अवश्य। हाँ साहब, कहिए क्या कहना है ? यह भी खूब रही !

एक श्रोता—तुम भी यार बड़े घोंचू हो। कुछ कहानी-वहानी सुनते, कुछ कविता-अविता होती, तो कुछ मज़ा भी आता।

दूसरा श्रोता—तुम नहीं जानते, इस कविता पर बड़ा वितंडा उठ खड़ा हुआ है। कुछ लोगों की राय है, यह नगेश जी की निकम्मी कविता है, कुछ इसे उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना मानते हैं।

तीसरा श्रोता—भला जी, क्या खूब ! हाँ साहब, सुनाइए वह क्या कविता है ?

हरिहर—(उठकर) शान्तिस्वरूप जी का प्रश्न बड़े महत्व का है। मैं उससे सहमत हूँ कि इस कविता पर विचार होना चाहिए। (लोग 'हाँ-हाँ, कहिए' कहते हैं) मैं एक आलोचक की दृष्टि से कह सकता हूँ कि नगेश जी की यह कविता उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसमें छायावादी काव्य-सौंदर्य के स्तर धीरे-धीरे खुलते जाते हैं। जीवन और सौन्दर्य का इतना अच्छा विश्लेषण अन्यत्र बहुत कम देखने में आया है। मानो कवि की अनुभूति-संवेद्य-चेतना इन पंक्तियों में

आकर एकत्र हो गई हो।

सिद्धनाथ—(खड़ा होकर) मेरे मत में यह कविता उनकी सर्वश्रेष्ठ प्रगतिवादी रचना है।

हरिहर—यह शिष्टाचार के विरुद्ध है कि आ॰ बीच में बोलें।

सिद्धनाथ—मैंने अपना मत व्यक्त किया है यदि तुम्हें बोलने का अधिकार है, तो मुझे भी है।

हरिहर—मैं मानता हूँ, किन्तु जब मैं बोल रहा हूँ, तब तो आप-को नहीं बोलना चाहिए।

एक श्रोता—यह बुर्जुआ शिष्टाचार है, साहब ! हाँ, कामरेड, तुम बोलो।

दूसरा श्रोता—क्या शिष्टाचार भी बुर्जुआ होता है ?

पहला श्रोता—अवश्य, यह सामन्त-युग की देन है। प्राचीन काल में राजा जब बोलता था, तब वह दूसरे लोगों की जबान बन्द कर देता था, दूसरे लोग चुपचाप सिर झुकाए सुना करते थे।

हरिहर—सुनिए, तो मैं आपसे कह रहा था कि...

उमापति—क्या खूब ! हरिहर जी, आप भी खूब हैं ! अरे भले आदमी...

दूसरा श्रोता—हरिहर जी को बोलने दीजिए, साहब !

उमापति—(खड़ा होकर) मैं हरिहर जी से प्रार्थना करूँगा कि हवाई लड़ाई क्यों कर रहे हैं। पहले लोगों को कविता तो सुना दीजिए, जिससे वे आपकी बातें समझ सकें।

सिद्धनाथ—'हवाई लड़ाई' का अर्थ अब खयाली पुलाव नहीं है

आज वह वास्तविक है। तुम अपने ज्ञान में सुधार करो कामरेड ?

एक श्रोता—यह धूल में लट्ठ मारा जा रहा है। (हँसता है) आलोचक हैं, आलोचक! कोई मज़ाक थोड़े ही है!

हरिहर—मैं आपको कविता सुनाता हूँ। शान्ति भाई, (हाथ बढ़ा कर) ज़रा दीजिए तो वह कविता।

शान्तिस्वरूप—कविता मैं ही क्यों न सुना दूँ। मैं चाहता हूँ, कविता सुनाकर जो-कुछ मुझे कहना है, वह कह लूँ, फिर उस पर विवाद हो।

उमापति—चलिए, आप ही सुना दीजिए।

शान्तिस्वरूप—(पढ़ता है)

स्वर्ग-नरक, सृष्टि-स्थिति-जीवन प्राण प्रलय चंचल-स्थिर,
विश्व-प्रकृति की चरम विकसिता, आभा-सी मधु स्मृति चिर,
प्रतिक्षण आविल में डाल रही, प्रतिक्षण कर्दम में पाल रही,
चिर-सृष्टि रूप चिर-सुखमयि तू चिर-दृष्टिकूट चिर-दुखमयि तू,
जन-जन-मन से रूढिवाद का व्यावर्त्तन कर फिर-फिर,
स्वर्ग-नरक, सृष्टि-स्थिति-जीवन, प्राण प्रलय चंचल-स्थिर।

यह नगेश जी की 'साधना' के प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित कविता है। सम्पादक ने इस कविता के नीचे एक नोट दिया है, वह भी सुनिये : "नगेश जी की यह क्रान्तिकारी रचना प्रकाशित करते हुए हमें हर्ष हो रहा है। उस दिन जब यह छपने जा रही थी, तभी अपने युग के एक आलोचक इसे पढ़कर सहसा कह उठे—वाह, नगेश जी सचमुच इस युग के

सर्वश्रेष्ठ कवि हैं! कितने प्राण हैं इस रचना में! हमारा विश्वास है, पाठक इस रचना को पढ़कर तृप्ति-लाभ करेंगे।—सम्पादक।"

श्रोता लोग—(आलोचकों को वाह-वाह करते सुनकर) वाह-वाह, कितनी सुन्दर रचना है।

शान्तिस्वरूप—'साधना'-संपादक की आज्ञा शिरसा स्वीकार करने के वाद भी मैं इस रचना का पूर्वापर नहीं समझ पाया।

एक श्रोता—हाँ भाई, अर्थ नहीं समझ में आया। तुम समझे?

दूसरा श्रोता—(घबराकर) मैं, मैंने तो सुनी ही नहीं।

हरिहर—सौभाग्य से मैं उस समय 'साधना'-संपादक के पास बैठा था।

प्रद्युम्न—यह कविता शुद्ध छायावादी है। 'जन-जन-मन से रूढिवाद का व्यावर्त्तन कर फिर-फिर...! और प्रगतिवाद किसे कहते हैं। वाह खूब! (पंक्ति दोहराता है)

उमापति—यह पंक्ति शुद्ध गांधीवाद को दृष्टि में रखकर लिखी गई है। 'जन-जन-मन से रूढिवाद का व्यावर्त्तन कर फिर-फिर...!' ज्ञात होता है, जन-जन-मन कहकर कवि जन-जन के मन को झनझना रहा हो। (दोहराकर) 'जन-जन-मन से रूढिवाद का व्यावर्त्तन कर फिर-फिर...!' इस कविता में कवि ने 'व्यावर्त्तन' द्वारा रामराज्य की कल्पना की है।

एक श्रोता—'व्यावर्त्तन' क्या? उसका अर्थ भी कीजिए न!

दूसरा श्रोता—चुपचाप सुनते जाओ, बीच में मत बोलो।

सिद्धनाथ—'रूढ़िवाद का व्यावर्त्तन' यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

शान्तिस्वरूप—हाँ, मैं चाहता हूँ, 'व्यावर्त्तन' का अर्थ समझा दिया जाय।

हरिहर—मेरा विचार है, प्रद्युम्न जी इस पर अपनी सम्मति प्रकट करें। आलोचना के क्षेत्र में उनका अपना स्थान है।

प्रद्युम्न—प्रारम्भ तुमने किया था, तुम्हीं कहो। मुझे जो-कुछ कहना होगा, बाद में कहूँगा। किन्तु इतना मैं मानता हूँ कि यह शुद्ध छायावादी कविता है। छायावादी कविता के सारे तत्त्व इसमें विद्यमान हैं।

अपरा—यदि आप लोग आज्ञा दें, तो मैं कुछ कहूँ।

सब—अवश्य, अवश्य।

अपरा—मेरी तुच्छ बुद्धि में इस कविता का अर्थ ही समझ में नहीं आया। कृपया पहले इसका अर्थ कर दीजिए। फिर वादविवाद हो, तो अच्छा।

एक श्रोता—कविता सुनते समय तो सब ने ऐसे सिर हिलाया, मानो विश्व-ब्रह्माण्ड का ज्ञान पचाए बैठे हैं।

दूसरा श्रोता—तुम चुपचाप मजा लो, देखते जाओ।

उमापति—हाँ, भाई हरिहर, कहो न।

सिद्धनाथ—अर्थ पर ही तो मतभेद है।

शान्तिस्वरूप—मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह कविता कवि ने किस वस्तु को लक्ष्य करके लिखी है ?

हरिहर—यदि आप लोग चाहें, तो मैं इसकी व्याख्या कर सकता हूँ।

प्रद्युम्न—आलोचक व्याख्या ही कर सकता है। हाँ, हरिहरजी, कहिए।

हरिहर—इसमें कवि ने चिन्ता, अनुभूति की अन्विति की है। कवि का तात्पर्य है, स्वर्ग और नरक के निर्माण में, सृजन और स्थिति में, प्राणों के प्रलय तथा उसके जीवन में सदा ही विश्व-प्रकृति का विकास होता रहता है।

एक श्रोता—क्या प्रलय में भी प्रकृति का विकास होता है?

हरिहर—(झल्लाकर) हाँ, प्रलय में भी विकास होता है। सृष्टि की गति की चरमावस्था प्रलय है। चरमावस्था का नाम ही विकास है। सुनिए तो, (गले का घूंट गुटककर) हाँ, मैं कह रहा था, इस कविता में कवि ने जीवन के सभी तत्त्वों का समावेश कर दिया है, इसलिए कवि कहता है : 'विश्व-प्रकृति की चरम विकसिता आभा सी मधु स्मृति चिरं...!' विश्व के मानव में परस्पर भेद है। कुछ स्वभावगत, कुछ परिस्थितिगत उस में व्यक्ति, काल, देश का व्यवच्छेद रहता है। फिर भी मानव-मात्र के सम्पूर्ण चेतन की हम चार वृत्तियाँ मानते हैं—उन्नता, सहायिका, सचेतना और अचेतना। अचेतना जड़ है, जो सृष्टि-मात्र में व्याप्त है। यदि हम चारों को विश्व की सीमा में बद्ध कर दें...

शान्तिस्वरूप—क्षमा कीजिए, आपकी व्याख्या तो कविता से भी दुरूह है। मैं तो कुछ भी न समझ सका।

एक श्रोता—आलोचक हैं कोई हँसी-मज़ाक है! नहीं सुनना था तो घर बैठे होते। अब पूछा है तो सुनना पड़ेगा।

हरिहर—मुझे खेद है मैं इससे नीचे स्तर पर नहीं उतर सकता। यदि आप नहीं सुनना चाहते तो मैं बैठ जाता हूँ।

अपरा—तो आप कुछ ऐसी बात कहिए जो समझ में भी आवे।

दूसरी स्त्री—यह आपने मनोविज्ञान की मन की चार वृत्तियों का वर्णन किया है। वे ठीक हैं, किन्तु इससे अर्थ तो स्पष्ट नहीं होता। मेरी प्रार्थना है हमें मूर्ख जानकर कुछ समझाने की कृपा कीजिए।

तीसरी स्त्री—प्रश्न यह है, यह दर्शन है अथवा काव्य?

एक श्रोता—यह नगेश जी की कविता है और हरिहरजी की आलोचना, इससे अधिक और कुछ भी नहीं है।

दूसरा श्रोता—यह कविता क्या कवि ने दार्शनिकों के लिए लिखी है या हमारे लिए? फिर जन-साधारण की पत्रिका 'साधना' में क्यों प्रकाशित की गई?

प्रद्युम्न—(खड़ा होकर) ज्ञात होता है, आपने कविता कोई हँसी-ठट्ठा समझ रखा है कि किसी ने पढ़ी और आपने वाह-वाह कर दी!

एक श्रोता—तो क्या हम यहाँ समाधि लगाने आए हैं? सीधे-सादे ढंग से अर्थ कीजिए, तो कुछ समझ में भी आवे।

हरिहर—कविता हृदय के रस से पूर्ण होती है। जब कवि की अनुभूति चरम दशा को पहुँच जाती है, तभी स्वतः प्रेरणा के रूप में वह फूट पड़ती है।

एक श्रोता—यह आपकी बात हमारी समझ में आई। अगर इसी तरह अर्थ करें, तो कविता का रस भी प्राप्त हो।

हरिहर—(बैठता हुआ) मुझे खेद है, मैं इससे नीचे स्तर पर नहीं उतर सकता। आपको ज्ञात है शेक्सपियर की एक-एक लाइन पर आलोचकों ने पृष्ठ-के-पृष्ठ रँग डाले हैं। प्रद्युम्न जी, आप ही इन्हें समझाइए।

एक स्त्री—ज़रा 'व्यावर्त्तन' का अर्थ भी समझाइए।

हरिहर—'व्यावर्त्तन' के कई अर्थ हैं। मैंने उक्त पंक्ति पर विचार नहीं किया कि यहाँ कौन-सा अर्थ ठीक बैठता है।

प्रद्युम्न—बात यह है, पाठक काव्य का रस दो तरह से प्राप्त करता है—एक सामूहिक रूप से और दूसरा प्रतिपद रस-स्रावन द्वारा। आलोचक की दृष्टि कवि के दूरस्थ ध्येय की तरफ़ होती है। आलोचक वहीं पहुँचता है, वहाँ से फिर प्रत्येक पंक्ति का रस ग्रहण करता हुआ व्याख्या करता है। यह तो स्पष्ट है कि नगेश साधारण कवि नहीं है! वह इस युग का श्रेष्ठ कवि है। मैं आप लोगों के लिए कह रहा हूँ... स्पष्ट है, उसने जो कुछ लिखा है, वह व्यर्थ या बकवास नहीं हो सकता। अवश्य उसमें कोई-न-कोई महत्ता है, जिसे आलोचक को ढूँढ़ना होगा। यदि हरिहरजी की प्रशंसा न समझी जाय तो मैं कहूँगा कि वे आज के श्रेष्ठ आलोचक हैं।

एक स्त्री—तो आप इस धारणा को लेकर चलते हैं कि नगेश साधारण कवि नहीं है इसीलिए उसकी कोई रचना साधा-

रण स्तर की नहीं हो सकती ?

एक श्रोता—इसमें भी कोई सन्देह है। भला, नगेश की कोई भी रचना साधारण समझी गई है! उसकी प्रत्येक रचना मासिक पत्रों के प्रथम पृष्ठ पर छपती है और हम न समझ में आने पर भी विश्वास कर लेते हैं कि यह उक्त कवि की महान रचना है!

सिद्धनाथ—मैं आपसे एक बात कह सकता हूँ कि नगेशजी की पिछली रचनाओं में बुर्जुआपन है, इसलिए उनके छन्द, लय, काव्य एकदम गतिहीन हो गए हैं। इधर कुछ दिनों से हमें विश्वास होने लगा है कि वे प्रगतिवाद की तरफ़ बढ़ने लगे हैं—अर्थात् उनकी विचारधारा में भारी उथल-पुथल मच रही है। वे व्यक्तिगत न होकर सामूहिक रूप से मनुष्य एवं मनुष्यगत काव्य-तत्त्वों को आधार मानकर लिखने लगे हैं। इस कविता में स्पष्ट ही कवि ने 'जन-जन मन से रूढिवाद का 'व्यावर्त्तन' माना है।

एक श्रोता—जब तक कवि जनता का कवि नहीं बनता तब तक उसकी कविता का कोई महत्त्व नहीं है।

दूसरा श्रोता—जनाब, कवि भटियारा नहीं है, जो हर ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे की बातें लिखे।

सिद्धनाथ—जीवन व्यक्ति नहीं है, वह समष्टि है। जो समष्टि का ध्येय लेकर चलता है, लोग उसी की कविता पढ़ते हैं। एक महल की अपेक्षा धर्मशाला का अधिक महत्त्व है! तुम्हारे घर में संगमरमर का फर्श है, तुम्हारे पास मोटर है,

यह कौन जानता है ? एक आदमी के पेट भरकर खा लेने से सारा देश सुखी नहीं कहला सकता।

शान्तिस्वरूप—किन्तु 'व्यावर्त्तन' का अर्थ तो समझा दीजिए।

हरिहर—(झल्लाकर) 'व्यावर्त्तन' का अर्थ है प्रत्यावर्त्तन। किन्तु मेरे पास इस बात के प्रमाण हैं कि कवि साम्यवादी नहीं है। एक कविता में, जो हाल ही में प्रकाशित हुई है, कवि ने कहा है...

अपरा—ठीक इस तरह हम वाद का एक खण्ड समाप्त कर सकेंगे।

हरिहर—ठहरिए, ज़रा याद कर लूँ...वह है (याद करता हुआ) 'आत्महीन...' न जाने आगे क्या है ?

शान्तिस्वरूप—आप ठीक कहते हैं। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

आत्महीन, अध्यात्महीन का सम्भव नहीं प्रकृत मन ;
चिर ईश्वर ही ध्येय विश्व का वह चिर-नव-मन-चेतन !

हरिहर—अब आपको विश्वास हो गया कि कवि मार्क्सवाद में विश्वास नहीं करता। वह ईश्वर को नहीं छोड़ सकता।

दूसरा श्रोता—तो अब तक सिद्धनाथजी हवाई-क़िले ही बना रहे थे !

तीसरा श्रोता—तुम नहीं जानते, दौड़ते घोड़े की क़ीमत ज्यादा होती है।

चौथा श्रोता—इन प्रगतिवादियों ने सोचा, लाओ नगेश की कविता का बहाना लेकर लोगों को बहकावें, ताकि प्रगतिवाद...

पाँचवा श्रोता—नगेश को हमने प्रगतिवादी दल से निकाल दिया है। यह देखिए, कल के 'सारस' पत्र में संपादक ने लिखा है...

पहला श्रोता—हाँ साहब, क्या लिखा है वह भी सुना दीजिए।

उमापति—इस से स्पष्ट हो गया कि कवि गांधीवादी है। गांधी पर उसकी ओजस्विनी कविता भी है।

सिद्धनाथ—आज मेरा भ्रम दूर हो गया। वैसे मैंने हृदय से नगेश को कभी कवि नहीं माना, वह तुक्कड़ है—भ्रान्त, पूँजीवादी रोग से ग्रस्त दुर्बल, पुंस्त्वहीन कवि।

अपरा—आपने 'व्यावर्त्तन' का अर्थ प्रत्यावर्त्तन कर डाला। यदि मैं भूलती नहीं हूँ, तो प्रत्यावर्त्तन का अर्थ है वापस लौटना। तो क्या इस कविता में कवि हमें रूढिवाद की ओर लौटने का आदेश दे रहा है ?

प्रद्युम्न—यहाँ हमें रूढिवाद का वाच्यार्थ न लेकर लक्ष्यार्थ लेना होगा—अर्थात् वैदिक युग, रामराज्य की ओर लौटना।

एक श्रोता—वाह प्रद्युम्नजी, वाह ! क्या व्याख्या की है आपने !

सिद्धनाथ—यदि रूढिवाद का अर्थ रामराज्य है, तो इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि मनुष्य मूल प्रकृति, नंगेपन की ओर जाय, या जहाँ से आया है, उसी तरफ़ क्यों न चले। स्पष्ट ही यह न कविता है, न कुछ—व्यर्थ की बकवास है। बेतुके, बेमतलब शब्दों का जोड़ है, जिन्हें यह कवि नाम-धारी जीव स्वयं नहीं जानता। यह कवि उस बच्चे की तरह है, जो कभी रोता है, कभी हँसता है और कभी

अतुकांत, असम्बद्ध प्रलाप करता है।

एक श्रोता—मनुष्य का यह रूप भी बड़ा शोभन है, जो अभी-अभी एक घड़ी पहले जिसकी प्रशंसा करते नहीं थकता था, वह अब झाड़ू लेकर उसके पीछे पड़ गया है!

दूसरा श्रोता—क्या सिद्धनाथ भी उस अबोध बच्चे की तरह नहीं हैं, जो अभी प्रशंसा कर रहे थे और अब गाली दे रहे हैं? अपने जाल में आप ही फँस रहे हैं!

हरिहर—यह सिद्धान्तवाद है! (हँसता है)

प्रद्युम्न—यह प्रगतिवाद है! (हँसता है)

सिद्धनाथ—(उठाकर) नहीं, छायावाद है साहब, नपुंसकतावाद!

हरिहर—नपुंसकतावाद प्रगतिवाद होगा। ज़बान सँभालकर बोलो।

सिद्धनाथ—सुनो हरिहर, तुम आलोचक होगे, तो यहाँ भी कम आलोचक नहीं हैं। ज्यादा बकोगे, तो उठा कर दो पटखनी लगाऊँगा कि छठी का दूध याद आ जायगा। मैं कहता हूँ और फिर कहता हूँ, छायावाद नपुंसकतावाद है, जिसमें न स्वस्थ सौन्दर्य है, न स्वस्थ ज्ञान। इधर-उधर के बीस-तीस शब्द सुन-सुनाकर, कुछ अधूरा दर्शन देख-दाखकर, तुकबन्दी करने लगे, जिसका न मनुष्य से सम्बन्ध है, न जीवन से, न जगत से, न किसी से। अपनी अतृप्त वासना के आवरण में ईश्वर, प्रकृति का बहाना लेकर ये टुटपूँजिए जो कहने लगे, वह हो गया छायावाद!

प्रद्युम्न—(सहमकर) सुनो सिद्धनाथ, तुम प्रगतिवादी बनकर

हमें डराना चाहो, तो हम डरने वाले नहीं हैं। हम जानते हैं, तुम्हें शास्त्रों का कितना ज्ञान है। मार्क्स पढ़कर, इधर-उधर से सुनकर मजदूर-किसानों का हित चिल्लाने-मात्र से तुम आलोचक नहीं बन सकते। तड़ाक-फड़ाक पटखनी देने या व्यंग्य द्वारा गाली देने-मात्र से कोई आलोचक नहीं बन सकता। जिसे 'व्यावर्त्तन'-जैसे शब्द का अर्थ नहीं आता, जिसे काव्य की पूर्वापर संगति का ज्ञान नहीं है और जो हीन स्तर की, केवल मजदूर-किसानों की दुहाई देकर लिखी गई तुकबन्दियों को श्रेष्ठ काव्य मानता है, हम जानते हैं वह कैसा प्रगतिवादी आलोचक है।

सिद्धनाथ—तुम मूर्ख हो।

प्रद्युम्न—तू मूर्ख, गधा, पाजी। (अकड़कर) बोलता ही जाता है!

सिद्धनाथ—गाली देगा, तो मुँह तोड़ दूँगा, उल्लू कहीं का!

हरिहर—बको मत, सिद्धनाथ!

सिद्धनाथ—तुम मत बको, बदमाश कहीं के।

प्रद्युम्न—तू बदमाश।

सिद्धनाथ—अबे, मैं कहता हूँ, मुँह में लगाम लगा, नहीं तो जरा-सी देर में जमीन चाटता दिखाई देगा। (बाहें चढ़ाता है)

प्रद्युम्न—बहुत मत बोल। जा, मुँह काला कर।

सिद्धनाथ—(प्रद्युम्न को गले से पकड़कर) बोल, घोंट दूँ गिच्ची?

प्रद्युम्न—(गला दबने से) मार...मार...साले!

एक स्त्री—हाय, हाय, बेचारे को मारे डालता है ! बचाओ ।

दूसरी स्त्री—चलो, भागो यहाँ से । भागो। अच्छी कविता सुनने आईं हम लोग । (लोग छुड़ाते हैं : हटो मूर्ख मत बनो । ज़रा-सी कविता के पीछे लड़ने लगे ! दो पार्टियाँ बन जाती हैं ।)

पहली पार्टी—सारा दोष सिद्धनाथ का है। इसी ने पहल की है, इसी ने गाली दी है ।

दूसरी पार्टी—ग़लत बात है । सारा दोष प्रद्युम्न का है । वही बदमाश है ।

पहली पार्टी—चुप रहो ।

दूसरी पार्टी—तुम चुप रहो ।

अपरा—(चिल्लाकर) आप लोग ज़रा-सी बात के पीछे लड़ने के लिए पागल हो उठेंगे, ऐसी आशा मुझे नहीं थी । यह सभ्य लोगों का काम नहीं है। यहाँ स्त्रियाँ हैं, सभ्य लोग हैं। बड़ा ही खेद है कि हम लोग इन बातों के पीछे मनुष्यता भी खो बैठें ।

(सब लोग अपनी-अपनी जगह बैठ जाते हैं। प्रद्युम्न कुर्ता झाड़ता है । सिद्धनाथ जोर से साँस लेता हुआ कभी-कभी प्रद्युम्न और हरिहर को देखता है । शान्तिस्वरूप इस लड़ाई का ध्यान न करके कभी-कभी नगेश की कविता पढ़ता है। दो पार्टियों में विभक्त होकर लोग नीचे को निगाह किए बैठ जाते हैं। इसी समय 'साधना'-संपादक प्रवेश करता है। अपरा उसे देखकर 'आइए, बैठिए' कहती है । फिर चुप बैठ जाती है ।)

संपादक—(थोड़ी देर तक सब तरफ़ देखता हुआ) क्या बात है,

इतनी चुप्पी क्यों है ? अरे खूब ! मालूम होता है, जैसे साँप सूँघ गया हो ! क्या हुआ ? कुछ कहोगे भी । अपरादेवीजी, आप ही कहिए, क्या हुआ ? हरिहर, तुम्हारी ज़बान तो रुकती ही नहीं थी ।

एक श्रोता—संपादकजी, छायावाद-प्रगतिवाद में कौन पुल्लिंग है, कौन स्त्रीलिंग ?

संपादक—छाया और प्रगति दोनों स्त्रीलिंग हैं और वाद पुल्लिंग ।

दूसरा श्रोता—तभी-तभी, इसीलिए खून होते-होते बच गया ।

संपादक—खून, क्या कहते हो खून ! बताओगे भी कुछ ?

एक श्रोता—संपादकजी, नगेश की कविता ने क्रान्ति कर दी थी । वह तो कहो...

दूसरा श्रोता—क्रान्ति होते-होते रह गई ।

संपादक—नगेशजी की कविता ने ? यह तो मैं देख रहा हूँ, पर बात क्या हुई ? क्यों हरिहर !

हरिहर—सिद्धनाथ से पूछो ।

संपादक—क्यों सिद्धनाथ !

सिद्धनाथ—मुझसे क्या पूछते हैं आप । पूछिए इन्हीं लोगों से ।

उमापति—नगेशजी की कविता ने लोगों को पागल बना दिया । हरिहर और प्रद्युम्न कह रहे हैं कि 'साधना' में प्रकाशित यह कविता छायावादी है । मैं कहता हूँ, यह गांधीवादी है । सिद्धनाथ कहते हैं, यह प्रगतिवादी है ।

एक श्रोता—अब कहाँ कहते हैं, प्रगतिवादी ?

उमापति—हाँ, अब नहीं कहते। अब कहते हैं, नगेश कवि नहीं है, तुक्कड़ है। बस, इसी बातपर, इसी समर्थन में तू-तू मैं-मैं हो गई। हाथापाई की नौबत आ गई।

संपादक—बस, (हँसता है, हँसता ही जाता है) खूब !

एक श्रोता—संपादकजी, आप भी खूब हैं हँस रहे हैं !

दूसरा श्रोता—मैं तो मान गया, आपने 'साधना' में जो-कुछ लिखा है, वह ठीक है। सचमुच उस कविता ने क्रान्ति कर दी।

संपादक—(हँसते हुए) अपरा देवी, आप मुझे क्षमा करें।

अपरा—आखिर आप इतना हँस क्यों रहे हैं ?

संपादक—हँस इसलिए रहा हूँ कि नगेश ने हमको खूब बेवकूफ बनाया।

सब—(हैरान होकर) क्या कहते हैं, आप !

संपादक—(हँसता हुआ) मैं जो कहता हूँ, उसका मेरे पास प्रमाण है। 'साधना' में प्रकाशित उस कविता के संबंध में नगेश ने मुझे एक पत्र लिखा है। बड़ा दिलचस्प पत्र है। (सब लोग आश्चर्य-चकित होकर कहते हैं—पत्र ?) हाँ, पत्र। उसमें मेरी भी मरम्मत की है और आलोचकों को अच्छा खासा मूर्ख बनाया गया है।

अपरा—सारी लड़ाई की जड़ कविता है। हाँ सुनाइए।

संपादक—नगेशजी लिखते हैं: "मेरी वह रचना आपने 'साधना' में प्रकाशित कर दी, इसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ। आपको ज्ञात है, मैं पिछले तीस वर्ष से कविताएँ लिखता

आ रहा हूँ। मैंने उसके द्वारा यथेष्ट यश प्राप्त किया है।"

आप लोग सुन रहे हैं न ?

सब—हाँ, कहते चलिए।

संपादक—वे लिखते हैं: "उस दिन मैं गंगा-तट पर बैठा था। अचानक मेरे मित्र कह उठे—क्या आप तत्क्षण कविता बना सकते हैं? मैंने उत्तर दिया—हाँ! और उसके साथ ही बोलना प्रारम्भ कर दिया। मेरे मित्र लिखने लगे। तीन-चार मिनट में वह रचना तैयार हो गई। मित्र ने पूछा—क्या यह रचना ऐसी है कि आपकी अच्छी रचनाओं की समता कर सके? मैंने उत्तर दिया—मैं अब इस परिस्थिति में हूँ कि जो भी मामूली चीज़ मैं लिखकर भेज दूँ, वह न केवल छप ही जायगी, बल्कि आलोचक उस पर विचार करने को भी बाध्य होंगे। तमाशा देखने के लिए मेरे मित्र ने वह कविता आप को भेज दी। मैं उस ऊटपटांग रचना को कविता नहीं कहता। आपने उसे 'साधना' के प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित करते हुए क्रान्तिकारी रचना कहकर अपनी टिप्पणी भी जड़ दी!

हरिहर-प्रद्युम्न—क्या कहते हैं आप? आश्चर्य है!

श्रोता—हैं, सब गुड़ गोबर!

अपरा—नगेशजी ने लिखा है? (सब आश्चर्य में पड़ जाते हैं)

संपादक—अभी और भी है। नगेशजी आगे लिखते हैं: "निश्चय ही वह मेरी तुकबंदी है। उसमें परस्पर-विरोधी एकांगी, विश्रृंखलित भाव हैं। पहली पंक्ति अर्थहीन है।

दूसरी परस्पर-विरोधी। तीसरी-चौथी अप्रासंगिक। शेष में भी कोई ऊँचा भाव नहीं है। 'जन-जन-मन से रूढ़िवाद का व्यावर्त्तन कर फिर-फिर'—इस पंक्ति में 'मन से' की जगह 'मन का' होना चाहिए और 'रूढ़िवाद' की जगह 'रूढ़िवाद से'। और भी उसमें बहुत दोष हैं। किन्तु आपने उस निरर्थक कविता को क्रान्तिकारी कहकर छाप दिया। इससे यह सिद्ध होता है कि सम्पादक और आलोचक की, स्पष्ट लिखने केलिए मुझे क्षमा कीजिए, दृष्टि वस्तु पर नहीं, व्यक्ति पर रहती है। व्यक्ति की महत्ता और गौरव के सामने आप सिर झुका देते हैं।"

उमापति—मैं मन में कह रहा था, 'व्यावर्त्तन' का अर्थ ठीक नहीं बैठता।

शान्तिस्वरूप—(उछलकर) मैं इतनी देर से क्या झक मार रहा था?

हरिहर—मैं भी कहूँ, यह बात क्या है!

संपादक—अब मैं अपनी बात कहूँ। मेरा विचार है कि पिछले बहुत दिनों से कविता लिखते रहने के कारण बहुत-से शब्द कवि के अपने बन गए हैं। उन शब्दों को यह जैसे चाहे, तोड़-मरोड़कर प्रयोग में ले आता है। उसका भी कारण है, वह यह कि कुछ तो हम लोगों की कविता के लिए बराबर माँग आने के कारण और कुछ अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए स्पष्ट और अच्छे भाव न उदित होने पर भी यह शब्दों से खिलवाड़ करके पाठक, आलोचक और संपादक को चकमा देता रहता है। जब इसका काम उन शब्दों से नहीं

चलता, तब नग्न, निगूढ़, अप्रकृत, बह्वर्थक शब्दों को लेकर उनका प्रयोग करता है। मैंने देखा है कि इस कवि की प्रतिभा पर पाठक स्तब्ध, आलोचक मुग्ध तथा दिङ्मूढ़ और हमारा जैसा संपादक भयभीत एवं नतमस्तक हो जाता है। आलोचक जमीन और आस्मान के कुलाबे मिलाता हुआ इसके कवित्त्व को, इसके ज्ञान-भण्डार को, इसके विचारों को, इसकी प्रतिपल उन्मेषित, गूढ़, अव्यक्त, अर्थहीन भाव-धारा को अपनी निगूढ़, अव्यक्त, दार्शनिक शैली द्वारा पुरिपुष्ट करता है। और वह निकृष्ट, भद्दी, रसहीन रचना दर्शनों का प्रस्फोट, जीवन का विश्लेषण, गहन तत्त्वों का सृजन करने वाली कहलाने लगती है।

एक श्रोता—आपका विश्लेषण सही है संपादक जी,

दूसरा श्रोता—यही बात है।

सिद्धनाथ—और मैं इतनी देर से क्या कह रहा था।

एक श्रोता—यही कि आप कुछ नहीं कह रहे थे।

हरिहर—किन्तु यह आलोचक का अपमान है कवि का अपमान है।

प्रद्युम्न—यह आपका अपना मत हो सकता है सिद्धान्त नहीं।

अपरा—किन्तु यह तो सम्पादक जी ने कवि के कथन की व्याख्या की है। कवि स्वयं ही आपकी इस लम्बी-चौड़ी व्याख्या का खण्डन कर रहा है।

एक श्रोता—मनुष्य में यह स्वाभाविक कमजोरी है वह सदा

व्यक्ति से प्रभावित होता है उसकी वस्तु से नहीं।

हरिहर—किन्तु उसका व्यक्तित्व उसकी वस्तु से ही तो बनता है।

प्रद्युम्न—समझाये इन्हें कोई। (हँसकर) अरे भाई, व्यक्ति व्यक्तित्व से भिन्न कहाँ है? वह तो उसका अभेद्य-सम्बन्धी है।

सम्पादक—आप मूल को भूलकर ऊपर की सतह से युद्ध कर रहे हैं प्रद्युम्न जी? जब कवि ने स्वयं लिखा है कि वह तीस वर्ष से कविता लिखने के पश्चात् इस परिस्थिति में है कि वह जो मामूली चीज लिखकर भेज देगा वह न केवल छप ही जायगी बल्कि आलोचक उस पर विचार करने को बाध्य होंगे।

एक श्रोता—इसीलिये कुछ समझदार लोगों का कहना है कि जीवित व्यक्ति की आलोचना नहीं करनी चाहिये। है न ठीक?

दूसरा श्रोता—देट्स-इट, देट्स-इट! बहुत से कवि-कवि न रहकर उपदेशक बन जाते हैं।

सम्पादक—इसलिये हमें मानना होगा कि प्रत्येक कवि और लेखक का एक निश्चित अवधि तक रचनाकाल होता है उसके बाद उसे ईमानदारी से रिटायर हो जाना चाहिये।

सिद्धनाथ—इसके बाद वह साहित्य नहीं रचता जूते रगड़ कर पैरों को धोखा देता है।

उमापति—इसमें चिन्ता की क्या बात है समय का सूप असली और नकली को फटक कर अलग कर देगा। चाहे तत्कालीन आलोचक न कर पायें।

कुछ लोग—वाह-वाह, क्या बात कही है उमापति जी ने ?

सिद्धनाथ—खूब है, खूब लिखा है।

एक श्रोता—सम्पादक जी का विश्लेषण भी खूब है साहब ?

हरिहर—सम्पादक जी, सच कहिए क्या यह नगेश का पत्र है ?

प्रद्युम्न—एक सत्य का उद्घाटन हुआ है आज !

उमापति—युग-युग की प्रवंचना दूर हो गई।

दूसरा श्रोता—विस्फोट हुआ है विस्फोट।

छेदी—बीबी जी, मैं चाय ले आया हूँ।

सम्पादक—हाँ, भाई मधुरेण समापयेत्। खूब रही। (हँसता है। सब योग देते हैं। फिर भी हरिहर और प्रद्युम्न जैसे जड़ हो गये हैं। दिखाई देता है प्यालों की चाय में नगेश के पत्र की प्रत्येक पंक्ति और सम्पादक का विश्लेषण धुए के साथ प्रत्येक सदस्य के मस्तिष्क के रूढ़िवादी कीड़ों को सतर्क कर रहा है।)

॥ समाप्त ॥

नया-नाटक

पात्र

नाटककार
प्रमोद
किरण
संतोष
गृहिणी
पाठक
मकान वाला
त्रिभुवन—आदि

[घर में एक कमरा। तीन बड़े दरवाज़े, जिनका मुख पूर्व की ओर है। पश्चिम की तरफ़ सामने एक बड़ा-सा पलंग पड़ा है। उस पर एक दरी, कुछ मैली चादर और एक गाव तकिया, तकिए का कपड़ा भी साधारण। सामने तीन कुरसियाँ, पलंग के पीछे दीवार के सहारे एक रैक में किताबें चुनी हुई हैं। उत्तर की तरफ मेज़, जिस पर अस्त-व्यस्त समाचार-पत्रों और किताबों का ढेर है। पश्चिम की तरफ भी तीन दरवाज़े हैं—आमने-सामने दक्षिण-पश्चिम की तरफ़ का द्वार बाहर की तरफ़ जाता है। दरवाज़ा, जिसके पास पलंग हैं, बंद है। उत्तर पश्चिम की तरफ का दरवाज़ा दूसरे कमरे में खुलता है। किताबों की रेक के ऊपर दीवार पर एक कलेंडर टंगा है, मेज़ के ऊपर दीवार में साधारण चित्र।। पलंग पर भी किताबें इधर-उधर फैली हैं। एक तरफ सवेरे का समाचार-पत्र पड़ा है। कोने में मोटी-मोटी दो-तीन किताबें।

पीछे-पश्चिम के पहले और तीसरे दरवाज़ों से, जो खुले हैं, परिवार के बच्चे आ-जा रहे हैं। एक आकर पलंग पर लेट जाता है। दूसरा आकर उसी जगह लेटना चाहता है, दोनों बच्चों की अवस्था बारह और चौदह वर्ष की है। छोटा लड़का लेटा-लेटा गाता है। दूसरा समाचार-पत्र उठाकर पढ़ता है। छोटे का नाम है किरण, बड़े का प्रमोद।]

किरण—तुम अलग क्यों नहीं बैठते, प्रमोद ? जब मैं गाता हूँ तभी तुम्हें समाचार-पत्र पढ़ने की सूझती है। हटो, अलग हटो !

प्रमोद—मैं न बैठूँ ? तुम्हीं अकेले लेटे रहो। मैं क्या समाचार-पत्र न पढ़ूँ। मैं तो पढ़ूँगा इतना बड़ा पलंग है—तुम्हीं ज़रा हट जाओ न ?

किरण—(तुनककर) मैं कहता हूँ हटो।

प्रमोद—मैं नहीं हटूँगा।

[दोनों में हाथा-पाई होती है; छोटा लड़का रुआसा-सा मेज़ के पास खड़ा हो जाता है। प्रमोद लेटकर अखबार पढ़ने लगता है]

प्रमोद—(कुछ देर बाद) अच्छा, लो तुम्हीं बैठ जाओ। मैं नहीं बैठता।

(समाचार-पत्र रखकर खड़ा होता है)

किरण—(रुआसा होकर) नहीं, तुम्हीं बैठो। जहाँ मैं जाता हूँ, वहाँ तुम भी जाओगे। जहाँ मैं बैठूँगा वहीं तुम भी बैठोगे। जाओ, मैं नहीं बैठता। (उत्तर की तरफ के दरवाज़े से दूसरे कमरे में चला जाता है। प्रमोद पलंग पर रखी मोटी पुस्तकें उलट-पलट कर देखता है)

[उत्तर की ओर से गृह-स्वामिनी आती है। छोटा कद, भारी शरीर]

गृहिणी—प्रमोद, आज राशन नहीं लाया, रे ? (जोर से) सुना नहीं मैं क्या कह रही हूँ ?

प्रमोद—राशन की दूकान बन्द है, शाम को खुलेगी। सवेरे तो कहा नहीं।

गृहिणी—तुझे नहीं मालूम था आज राशन का दिन है? तुझे खुद ख्याल रखना था। मैं कहाँ तक याद रखूँ। चलो फिर भूखे बैठे रहो। मुझे क्या?

(उसी उत्तर के दरवाजे से भीतर चली जाती है)

[किरण आता है]

किरण—प्रमोद, आज शाम को संघ की रेली हैं, तुम चलोगे? गुरूजी आरहे हैं, उनका भाषण भी होगा।

(सोलह साल की एक कन्या आकर कुरसी पर बैठकर समाचार-पत्र पढ़ने लगती है।)

प्रमोद—मैं नहीं जाऊँगा। तुम्हारा संघ मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है। गुरुजी न जाने कौन हैं? आ चुके गुरू जी!

किरण—देखो, गुरूजी की बाबत कुछ न कहना! हम उनका आदर करते हैं। मेरे गुरूजी की निन्दा करोगे तो मैं तुम्हारे मास्टर को गाली दूँगा।

प्रमोद—उनसे तो तुम भी पढ़े हो—दो उन्हें गाली! जिन्होंने पढ़ाया है, क्या उन्हें भी गाली दी जाती है? और वह कल फिर तुम्हारे मास्टर होंगे। क्या उस समय तुम्हें लाज न आयगी कि जिन मास्टर साहब से आज मैं पढ़ रहा हूँ उन्हीं को मैं गाली दे चुका हूँ?

संतोष—(दोनों से) देखो गाली तो किसी को भी नहीं देनी चाहिए, चाहे कोई हो।

किरण—(अकड़कर) यह मेरे गुरूजी को बुरा-भला कहते रहें, मैं कुछ न कहूँ ?

प्रमोद—गुरूजी कोई मास्टर तो है नहीं, इसलिए उन्हें गाली देने में क्या हर्ज है ?

किरण—(सामने खड़े होकर) हाँ, गुरूजी मास्टर जी से भी बड़े हैं, समझे ! वह हिन्दुस्तान में हिन्दू राष्ट्र स्थापित करना चाहते हैं, हिन्दुओं का उद्धार करना चाहते हैं, हमारा संघ न हो तो मुसलमान तुम सबको मार डालें । हम तुम्हें बचाने वाले हैं !

प्रमोद—मैं कांग्रेस और गांधीजी को मानता हूँ । अगर गांधीजी और कांग्रेस न होती तो स्वराज्य नहीं मिल पाता । ये संघ वाले बैठे देखते रहते ।

संतोष—संघ अपनी जगह ठीक है, कांग्रेस व गांधीजी अपनी जगह । कांग्रेस कौन हिन्दुओं की रक्षा कर रही है ? पंजाब में हिन्दू ही मर रहे हैं—कांग्रेस क्या कर रही है ?

किरण—कांग्रेस हिन्दुओं का नाश कर रही है !

प्रमोद—संघ मूर्खों की जमात है, जो लोगों को लड़ने को तैयार कर रही है ।

किरण—फिर गाली दी ! मुँह बंद करो, नहीं तो थप्पड़ मारूँगा ।

प्रमोद—मूर्ख कहना क्या गाली है ।

किरण—और नहीं तो क्या ? अगर अच्छा है तो क्या तुम

अपने मास्टर को ऐसा कह सकते हो ?

संतोष—मूर्ख नहीं कहना चाहिए—बुरी बात है।

प्रमोद—मैं तो कहूँगा।

किरण—मैं तुम्हें कहूँगा।

प्रमोद—मैं तुम्हें कहूँगा मूर्ख !

किरण—तुम मूर्ख !

प्रमोद—तू मूर्ख !

किरण—तू मूर्ख ! तेरा मास्टर मूर्ख !

[दोनों लड़ पड़ते हैं। इतने में गृह-स्वामी, जो एक नाटककार व कवि है, आ जाता है। कवि की अवस्था बयालीस वर्ष की है। शरीर दोहरा। रंग गेहुँआँ। चेहरे पर गौरव, गंभीरता, ओज। पर शरीर पर वृद्धावस्था के चिह्न। आँखों पर चश्मा। सोचता हुआ आता है। बच्चे एकदम चुपचाप खिसक जाते हैं। कवि आकर गाव तकिए के सहारे पलंग पर लेट जाता है। थोड़ी देर के लिए आंखें बंद कर लेता है। कन्या पंखा तेज कर देती है।

संतोष—पानी लाऊँ ?

नाटककार—हाँ, एक गिलास लाओ तो, बेटी।

[प्रमोद आता है, लड़की जाती है]

प्रमोद—वह संपादक आए थे; कह रहे थे कविता आज ही चाहिए ! मैंने कहा पिता जी घर पर नहीं हैं।

नाटक०—कविता चाहिए, पुरस्कार देने का नाम नहीं लेते। दो-दो महीने हो जाते हैं तब कहीं जाकर दस रुपए चपरासी के हाथों भेज देंगे। (प्रमोद चला जाता है। लड़की

पानी लाकर देती है। पीकर गिलास देते हुए) आज ही एक एकांकी लिखकर देना है। दो-तीन बार पत्र आ चुका है। देखो, ऐसा करो; मेरा राइटिंग पैड और कलम लाकर दे दो। आज एक एकांकी लिखकर भेज देना है। उस बेचारे संपादक से रुपया पेशगी ले चुका हूँ। उसे निराश नहीं करूँगा। उसकी चिट्ठी कहाँ है ?

संतोष—वह सामने रेक में रखी है। (उठाकर देती है) पहले भोजन तो कर लीजिए।

नाटक०—नहीं, बेटी पहले लिख लूँ, फिर देखा जायगा। वैसे भी मुझे भूख नहीं है। अभी एक पार्टी में खाकर आया हूँ। मुझे शांति चाहिए। बच्चों से कहो उस कमरे में बैठें।

संतोष—अच्छा। देखो, प्रमोद, किरण, पिता जी लिख रहे हैं, इधर न आना। (चली जाती है)

[नाटककार कागज लेकर लिखने बैठता है। इतने में गृहिणी आ जाती है]

गृहिणी—अब राशन कब आयगा ? घर में न कोयला है, न गेहूँ, न चीनी।

नाटक०—(लिखते लिखते निगाह उठाकर) राशन प्रमोद से मँगा लेना था। मुझे इस समय लिखने दो। एक नाटक आज ही लिखकर देना है। संपादक के कई पत्र आ चुके हैं।

गृहिणी—आ चुके हैं तो क्या करूँ ? इन बच्चों के पेट के

लिए तो चाहिए ही। नहीं होगा तो मैं क्या खिला दूँगी? ज़रा देर को खाना नहीं मिलता तो ये आसमान सिर पर उठा लेते हैं।

नाटक०—प्रमोद! प्रमोद! (प्रमोद आता है) आज राशन का दिन था, क्यों नहीं आया?

प्रमोद—सवेरे इन्होंने कहा नहीं। बारह बजे दुकान बंद हो जाती है। अब तो शाम को मिलेगा।

गृहिणी—फिर पिसेगा कब? शाम को रत्ती-भर भी आटा नहीं हैं। क्या खिलाऊंगी?

नाटक०—तुम्हें सवेरे कहना था।

गृहिणी—मैं कहाँ तक सब बातें याद रखूँ? तुम्हें तो सिवाय मटर-गश्ती या लिखने के किसी काम के लिए फुरसत होती नहीं है। न घर का ध्यान है, न और कुछ।

नाटक०—अच्छा, मैं ही शाम को राशन ला दूंगा। इस समय शांति करो। थोड़ा ही समय शेष है।

गृहिणी—तो खाना तो खा लो—तैयार है। चलो उठो, फिर लिख लेना।

नाटक०—(मुस्कराकर) खाना तो अभी मैं नहीं खाऊँगा। तुम लोग खाओ। बात यह है...बात यह है...(बच्चों की तरफ देखकर) देखो, शोर मत मचाओ, मुझे काम करना है।

गृहिणी—(तेज़ी से) मालूम होता है कहीं चाय-वाय पी ली होगी। मैंने तुमसे कई बार कहा है जब चाय तुम्हें नहीं

पचती तो क्यों पीते हो ? गरम खाना न खायँगे, दोपहर को आराम न करेंगे, जब देखो तब या तो बाहर से चाय पीकर आ जायँगे या फिर घर में मुझे चाय बनाने के लिए तंग करेंगे। हाँ, मैं भी तो सुनूँ, कहाँ क्या खाया है ?

नाटक०—(नरमी से) लोग पकड़कर ले गए तो जाना पड़ा। हाँ, चाय भी पी...नहीं कॉफी थी। असल में लंच था।

गृहिणी—तो कॉफी तुम्हें कौन माफिक आती है ? चलो थोड़ा सा खा लो। फिर काम करना, उठो।

नाटक०—नहीं, मैं खाना नहीं खाऊँगा। पेट में जरा भी जगह नहीं है। इस समय तो तुम मुझे क्षमा कर दो।

गृहिणी—नहीं यह न होगा। मैं भी खाना न खाऊँगी। तुम्हें मालूम है जब तक तुम खाना नहीं खाते, मैं भी नहीं खाती।

नाटक०—देखो, जाओ खाना खा लो। (क्रोध से) मैं खाना नहीं खाऊंगा—एक बार कह दिया, दस बार कह दिया।

गृहिणी—यह बताओ तो फिर तुमने कॉफी क्यों पी ? न जाने क्या-क्या खाते फिरते हो। अच्छी बात है, मैं भी नहीं खाऊँगी। संतोष, जा बच्चों को खाना परस दे और तू भी खा ले।

नाटक०—मैंने निश्चय किया है कि अब चाय, काफी न पीऊँगा। क्या करूँ, कुछ ऐसे जिद्दी आदमी मिल जाते हैं जो हज़ार बार समझाओ, खुशामद करो, पर नहीं मानते। इस समय उन लोगों पर ऐसा क्रोध आता है

कि क्या कहूँ ? और इसमें उनका क्या दोष है, सारा दोष तो मेरा है। मैं ही न जाता तो क्या वे लोग पकड़-कर ले जाते ? कह देना चाहिए था कि मैं बीमारी से उठा हूँ। बाहर की कोई अनाप-शनाप चीज़ पचती नहीं है। आप लोग जाइए। और न मानते, आग्रह ही करते तो थोड़ा-सा सूप पीकर रह जाता। (पत्नी की ओर देखकर) क्या बताऊँ मैं ही मूर्ख हूँ। अपना भला-बुरा तो मुझे ही सोचना चाहिए।

गृहिणी—नहीं ऐसा क्यों नहीं कहते हो ? जाना तो चाहिए ही। खैर, अब कृपा करके चाय, कॉफी न पिया करो। दूध पियो।

नाटक०—(भीतर-ही-भीतर प्रसन्न होकर) अब देखना कि मैं चाय की तरफ देखूँगा भी नहीं। जाओ, आज तो खाना खाओ, फिर तुम्हें शिकायत करने का मौका न मिलेगा।

गृहिणी—मैं सब समझती हूँ, तुम इसी तरह खुशामद करके पीछा छुड़ा लेते हो। लेकिन फिर चाय पियोगे, लंच खाने जाओगे,।

नाटक०—क्या तुम्हें मेरा विश्वास नहीं है ? जाओ, आज तो खाना खा लो।

गृहिणी—अच्छा, जाती हूँ।

[सब चले जाते हैं। कवि रह जाता है। वह कागज संभालकर लिखने की ओर ज्यों ही संलग्न होता है त्यों ही दक्षिण के द्वार से कसी की आवाज़ आती है]

नाटक०—(पलंग पर बैठे-बैठे) कौन ? कौन साहब हैं ?

आगन्तुक—(भीतर आकर) मैं हूँ। एक बार पहले भी आया था। आपके दर्शन नहीं हुए। ही ही...

नाटक०—(जरा रुखाई से) कहिए ? बैठिए न ! कहिए, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ? (पैड और कलम को लिखने के लिए तैयार करते हुए) हाँ !

आगन्तुक (कुरसी पर बैठकर दोनों हथेलिया मसलते हुए) आपको कष्ट ही देने आया हूँ, पर क्या किया जाय। बात यह है, आपकी अर्थ-मंत्री से मित्रता है। मैंने उनके आफिस में आवेदन-पत्र भेजा है। यदि···आप···कृपा करके कह दें तो········

नाटक०—अर्थ-मंत्री से मेरी मित्रता ? क्या कह रहे हैं आप ? मैं तो उनसे कभी मिला भी नहीं हूँ, पिछली बार कालेज में जब मेरा लिखा हुआ नाटक खेला गया था, उस समय उन्होंने उस नाटक को देखकर प्रसन्नता प्रकट की थी। जब लोगों ने मुझे घसीट ले जाकर वहाँ खड़ा कर दिया तब उन्होंने मुझसे हाथ मिलाया था—बस।

आगन्तुक—जिन लोगों ने उस समय उन्हें आपसे मिलते देखा था, उन्हीं से एक ने मुझ से कहा है। वह कहते हैं यदि आप कह दें तो मेरा काम बन जाय। बात यह है कि मैं गरीब हूँ, चार बच्चे हैं, बहन है, माँ है, स्त्री है। पिछले दिनों छटनी में आकर मेरी नौकरी छूट गई। तब से बेकार हूँ।

ऊपर दया कीजिये। मेरे बच्चे भूखे मर रहे हैं, क्या आपको दया नहीं आती ?

नाटक०—(दुखी होकर) अब मैं आपको कैसे समझाऊँ ?

आगंतुक—समझाने की इसमें क्या बात है ? कुल दो घंटे का काम है। टाँगा मैं ले आता हूँ। बस, आप चले चलिये। आज ही सबेरे वह दौरे से वापस लौटे हैं, कल तक ठहरेंगे। दो दिनों तक यहाँ रहने का प्रोग्राम मैं उनके अर्दली से मालूम करके आया हूँ।

[कोई बाहर से आवाज लगाता है]

नाटक०—किरण, देखना कौन है ?

किरण—(लौटकर) पाठकजी आए हैं। दो आदमी और हैं।

नाटक०—बुला लो। (आगन्तुक से) देखिए आप कल आइए, मैं कल आपको ठीक-ठीक बता सकूँगा।

आगंतुक—आप टालिए नहीं, मैं आपको ले जरूर चलूँगा। कल सही। मुझे विश्वास है मेरा काम बन जायगा। क्षमा कीजिए, मेरी प्रकृति ही ऐसी है ! नमस्ते।

नाटक०—नमस्ते।

[आगन्तुक चला जाता है। इसके साथ ही नवागन्तुकों के आने की आवाज़ आती है]

नाटक०—जितना मैं एकांत चाहता हूँ उतना ही विघ्न पड़ता जाता है।

(इसी बीच में गृहिणी आती है)

गृहिणी—देखो, किसी को चाय का निमन्त्रण न दे बैठना। घर

में चीनी विलकुल नहीं है। कहलाओगे तो मैं साफ़ मना कर दूँगी। अनादर हो तो तुम जानो। और उन लोगों के साथ बैठने का अवकाश है, घर का सामान लाने की ज़रा भी फ़ुरसत नहीं है ? बच्चे आयें तो झिड़क कर वाहर कर दो, मैं आऊँ तो वात न करो, और इन लोगों के साथ घंटों बातें करते रहो ! यह कौन था जो अभी गया ?

(अपने-आपसे) न जाने इनके पास क्या मिठाई है ?

नाटक०—वह मेरा कुग्रह था, व्यर्थ चिपट गया।

गृहिणी—तो कह क्यों नहीं देते कि घर में नहीं हैं या अवकाश नहीं है ? हाँ, मकान वाला किराया माँगने आया था, मैंने कहलवा दिया 'हैं नहीं'।

(दक्षिण के दरवाजे से तीन व्यक्ति आते हैं। गृहिणी उत्तर के द्वार से भीतर जाती है)

पाठक—आज तो मैंने आपको पा लिया है, कविता लेकर ही रहूँगा। पन्द्रह अगस्त निकट है और आपकी कविता के विना पत्र नहीं निकल सकता। (तीनों यथास्थान बैठते हैं) लाइए, कहाँ है कविता ?

नाटक०—आइए, पाठकजी। कविता अभी लिखी ही कहाँ है। समय ही नहीं मिला। (दूसरे दो व्यक्तियों से) आप !

व्यक्ति—मुझे दीनानाथ जी ने भेजा है, हिंदू धर्म, हिन्दुओं की जागृति पर एक कविता के लिए शायद उन्होंने आप से कहा था। उसी के लिए आया हूँ। यह (तीसरे की तरफ) मेरे साथी हैं।

पाठक—हिन्दुत्व, हिन्दू धर्म ! क्या अब इतने नीचे उतर पड़े हैं आप ? बेवकूफी !

व्यक्ति—आपको यह कहने का कोई अधिकार नहीं है, क्या हिन्दुत्व पर कविता लिखना बेवकूफी है ? आप-जैसों की वजह से ही हिन्दुओं की आज यह अवस्था है, हिन्दू होकर आप हिन्दुओं का नाश कर रहे हैं, मुसलमानों ने एक होकर पाकिस्तान ले लिया, आपके विरोध को पीस डाला और वलात् आपकी छाती पर चढ़ कर अपना उद्देश्य पूरा करा लिया। और अभी हुआ क्या है ! यह पाकिस्तान हमारे देश, हमारी संस्कृति, हमारे धर्म के लिए एक दिन भयंकर शत्रु बनकर उठेगा। चाहेगा कि सम्पूर्ण भारत में एक बार फिर दूसरे मुसलमान देशों की सहायता से मुसलमान राज्य करें। यदि कांग्रेस की यह ढुल-मुल नीति न होती, वह दृढ़ता से काम लेती, तो क्या मजाल कि देश के टुकड़े हो जाते। हम लोग अंग्रेजों को मजबूर कर देते और उन्हें मानना पड़ता। (जोश में खड़ा हो जाता हैं।)

पाठक—आप किस सपने की दुनिया में हैं ? यदि कांग्रेस न होती तो जो कुछ आज आपको मिल रहा है, वह कभी न मिल पाता। (हाथ मार कर) यह गांधीजी का प्रताप है, उनकी अहिंसा, सत्य की विजय है जो अंग्रेज यहाँ से सब-कुछ देकर जाने को तैयार हो गए हैं ! सन्' ४२ के आन्दोलन ने अंग्रेजों के दाँत खट्टे कर दिये। उन्होंने समझ लिया कि इस देश में हमारी दाल नहीं गल सकती। तुमने,

हिन्दुत्व-हिन्दुत्व चिल्लाने वालों ने, क्या किया है ? (ज़ोर से) न कभी जेल की हवा खाई, न कठिनाई झेली ! आज देश को लाभ हो रहा है तो तुम लोगों ने सोचा हिन्दुओं को भड़का कर कांग्रेस के विरुद्ध करो, ताकि आने वाले निर्वाचन में देश की बागडोर तुम्हारे हाथ में आ जाय। इस धोखे में न रहना, हम तुम्हारी चालों को खूब समझते हैं ! तुम्हारे आन्दोलन को कुचल कर रख दिया जायगा, रही बात हिन्दुओं पर आपत्ति की—उसका उपाय कॉंग्रेस कर रही है। हम लोग देश में विप्लव, विद्रोह न होने देंगे। यह तो संक्रांति काल हैं, इसमें थोड़ी-बहुत गड़बड़ी तो होती ही है। रही बात पाकिस्तान के हिन्दुस्तान पर हमला करने की, वह तो सोचना भी मूर्खता है।

व्यक्ति—(तिरस्कार, घृणा की हँसी हँसकर) यह खूब रही कि गांधी जी के कारण देश को स्वराज्य मिल रहा है ! अजी जनाब, यदि अंग्रेजों की यह हालत न होती तो स्वराज्य मिल जाता ? शिव ! शिव ! आज अंग्रेज आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक—सभी पहलुओं से कमजोर हो गया है। वह इस समय 'सारा जाता देखिए, आधा दीजे बाँट' वाली कहावत चरितार्थ कर रहा है। तुमने औपनिवेशिक-स्वराज्य स्वीकार कर लिया है, उसके चूसने के लिए इतना ही बहुत है। नोआखाली, कलकत्ता, पंजाब और सीमाप्रांत में जो कुछ हो रहा है, वहाँ हिन्दुओं के साथ जो दुष्टतापूर्ण अत्याचार हो रहे हैं, उन्हें रोकने का कांग्रेस ने क्या उपाय

किया है ? क्या यह सही नहीं है कि कांग्रेस और गांधीजी की मुसलमानों को प्रसन्न करने वाली नीति से ही हिन्दुओं का इतना अधःपतन हुआ है। मुसलमानों की रक्षा के लिए लीग है। किन्तु जिनके वल पर कॉंग्रेस खड़ी है, उनकी ही हत्या होते देखकर उसे जरा भी दुख नहीं है। कांग्रेस प्रजा-तन्त्र का दावा करती है, समानता के व्यवहार का ढिंढोरा पीटती है, पर कितना अन्याय है बेचारे हिन्दुओं पर! मैं तुम्हारे-जैसे कांग्रेसियों को नपुंसक, निस्तेज और डरपोक समझता हूँ।

पाठक—मुँह संभाल कर वातें करो! मुँह तोड़ दूँगा! मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो गाली खालें और सुनते रहें। (कुरते की बाहें सिकोड़ता है)

व्यक्ति—मैं कहूँगा, फिर कहूँगा कि तुम्हारी नपुंसकता ने ही हमारा नाश किया है। तुम अहिंसा के पुजारी! (पाठक उठकर खड़ा हो जाता है। व्यक्ति भी उठकर खड़ा हो जाता है।) धूर्त! कपटी! हत्यारे!

पाठक—मैं कहता हूँ चुप रहो, वोलो मत, नालायक!

व्यक्ति—तुम नालायक!

पाठक—तू नालायक! गधा! पाजी!

(दोनों लड़ने लगते हैं। नाटककार बीच-बचाव करता है।)

नाटक०—यह बहुत बुरी वात है। वातों-वातों में आप लोग हाथा-पाई पर उतारू हो गए।

लोग—(एकदम भीतर आकर) क्या हुआ? क्या हुआ? क्यों

साहब ? आप सभ्य होकर लड़ते हैं !

नाटक०—(हँसकर) विचार-विनिमय हो रहा है !

लोग—हमने समझा लाठी चल गई। लड़ो मत, भाई! लड़ते क्यों हो ? अच्छा विचार-विनिमय हुआ ! लड़ना हो तो बाहर जाकर लड़ो। किसी के घर आकर लड़ना क्या आप जैसों को शोभा देता है ? चलो (जाते हुए) भाई-भाई होकर लड़ते हैं। कैसा समय है।

(चले जाते हैं। दोनों चुपचाप कुरसी पर बैठ जाते हैं।)

नाटक०—अच्छा, अब शांत हो जाइये। हमारा प्रजातन्त्र स्वप्न नहीं, सत्य है। हम चाहते हैं भारत में वास्तविक प्रजातन्त्र हो। किन्तु जैसी परिस्थिति है, उसे देखते हुए विश्वास नहीं होता कि भारत में यह कभी सत्य हो सकेगा। पाकिस्तान लेने के पहले ही मुसलमान एक नया सपना देखने लगा है। आज मुसलमान की आवाज़ है—'मुस्लिम हैं हम वतन हैं सारा जहाँ हमारा'। भौगोलिक और धार्मिक दृष्टि से पाकिस्तान के साथ सारे मुस्लिम प्रदेश हैं, जिन्होंने मुस्लिम राष्ट्र के लिये क्या-क्या प्रयत्न नहीं किए, इस समय हमको एक ऐसी दृढ़ सरकार की आवश्यकता है जो मुसलमानों की ओर मित्रतापूर्ण हाथ बढ़ाती हुई भी उनकी गतिविधि से पूर्णतया परिचित रहे और आवश्यकता पड़ने पर दृढ़ता से देश की रक्षा करे।

पाठक—खैर, कविता की बाबत कहिये, मुझे देर हो रही है।

व्यक्ति—फिर मैं उन्हें क्या उत्तर दूं ? मुझे और जगह भी जाना है। मैं आपसे सहमत हूँ, साहब !

नाटक०—कविता के अतिरिक्त यदि नाटक हो तो कैसा रहेगा ?

पाठक—फिर और क्या चाहिए !

व्यक्ति—मेरे लिये भी क्या ?

नाटक०—हाँ।

व्यक्ति—हम छाप देंगे।

नाटक०—एक ही नाटक होगा, दोनों जगह छपेगा। आप लोगों को आपत्ति तो न होगी ?

पाठक—मैं कांग्रेस के पक्ष का चाहता हूँ, ताकि पन्द्रह अगस्त के दिन लोगों को पढ़ने को मिल जाय।

व्यक्ति—मैं हिन्दुत्व पर चाहता हूँ।

नाटक०—उसमें दोनों बातें होंगी।

पाठक—स्वीकार है।

व्यक्ति—मुझे भी स्वीकार है। अच्छा, नमस्ते !

नाटक०—नमस्ते !

[दोनों व्यक्ति चले जाते हैं, पाठक रह जाता है]

पाठक—मुझे खेद है कि आपके घर यह कांड हुआ। क्षमा चाहता हूँ।

[किरण का प्रवेश]

किरण—यह तार आया है।

[नाटककार पढ़ कर रख देता है]

पाठक—कैसा तार है ? कुशल तो है ? (नाटककार तार उसके सामने फेंक देता है, वह पढ़ता है) 'कल तक नाटक नहीं आया तो भुगतना पड़ेगा' क्या बात है, धमकी भरा तार।

नाटक०—बात यह है, घर का खर्च चलाने के लिए मैंने पत्र-संपादक से पेशगी रुपये लिये थे। मैंने वादा किया था कि समय पर नाटक लिखकर भेज दूँगा। किन्तु लिखने का समय ही नहीं मिलता। आज सोच रहा था एक नाटक लिखकर भेजूँगा। दो-तीन दिन से नाटक का प्लॉट भी मस्तिष्क में घूम रहा था, किन्तु समय मिले, तब न ! गेहूं, चीनी, चावल के लिये लाइन बनाकर खड़े होने में तीन चार घंटे लग जाते हैं। फिर गे पिसवाने मेंहूँ आधा दिन लगता है। इसके बाद कोयले की बारी आती है, उसमें कई कई दिन लग जाते हैं। यदि समय पर न पहुँचो तो कोयला समाप्त हो जाता है। जो हमें चाहिये वह उन दुकानदारों के पास नहीं होता, जो दुकानदारों के पास होता है वह हमारे काम का नहीं होता।

पाठक—आजकल तो जीना दूभर हो गया है।

नाटक०—चलूँ पहले दो घंटे लगाकर राशन लाऊँ, फिर लिखूंगा। (हंसकर) एक बजे से लिख रहा हूँ। पर चार पंक्तियाँ भी न लिखी जा सकीं।

पाठक—हिन्दी के लेखक की आज क्या दशा है, **यह कौन**

पाठक—खैर, कविता की बाबत कहिये, मुझे देर हो रही है।

व्यक्ति—फिर मैं उन्हें क्या उत्तर दू ? मुझे और जगह भी जाना है। मैं आपसे सहमत हूँ, साहब !

नाटक०—कविता के अतिरिक्त यदि नाटक हो तो कैसा रहेगा ?

पाठक—फिर और क्या चाहिए !

व्यक्ति—मेरे लिये भी क्या ?

नाटक०—हाँ।

व्यक्ति—हम छाप देंगे।

नाटक०—एक ही नाटक होगा, दोनों जगह छपेगा। आप लोगों को आपत्ति तो न होगी ?

पाठक—मैं कांग्रेस के पक्ष का चाहता हूँ, ताकि पन्द्रह अगस्त के दिन लोगों को पढ़ने को मिल जाय।

व्यक्ति—मैं हिन्दुत्व पर चाहता हूँ।

नाटक०—उसमें दोनों बातें होंगी।

पाठक—स्वीकार है।

व्यक्ति—मुझे भी स्वीकार है। अच्छा, नमस्ते !

नाटक०—नमस्ते !

[दोनों व्यक्ति चले जाते हैं, पाठक रह जाता है]

पाठक—मुझे खेद है कि आपके घर यह कांड हुआ। क्षमा चाहता हूँ।

[किरण का प्रवेश]

किरण—यह तार आया है।

[नाटककार पढ़ कर रख देता है]

पाठक—कैसा तार है ? कुशल तो है ? (नाटककार तार उसके सामने फेंक देता है, वह पढ़ता है) 'कल तक नाटक नहीं आया तो भुगतना पड़ेगा' क्या बात है, धमकी भरा तार।

नाटक०—बात यह है, घर का खर्च चलाने के लिए मैंने पत्र-संपादक से पेशगी रुपये लिये थे। मैंने वादा किया था कि समय पर नाटक लिखकर भेज दूँगा। किन्तु लिखने का समय ही नहीं मिलता। आज सोच रहा था एक नाटक लिखकर भेजूँगा। दो-तीन दिन से नाटक का प्लॉट भी मस्तिष्क में घूम रहा था, किन्तु समय मिले, तब न ! गेहूं, चीनी, चावल के लिये लाइन बनाकर खड़े होने में तीन चार घंटे लग जाते हैं। फिर गे पिसवाने मेंहूँ आधा दिन लगता है। इसके बाद कोयले की बारी आती है, उसमें कई कई दिन लग जाते हैं। यदि समय पर न पहुँचो तो कोयला समाप्त हो जाता है। जो हमें चाहिये वह उन दुकानदारों के पास नहीं होता, जो दुकानदारों के पास होता है वह हमारे काम का नहीं होता।

पाठक—आजकल तो जीना दूभर हो गया है।

नाटक०—चलूँ पहले दो घंटे लगाकर राशन लाऊँ, फिर लिखूंगा। (हंसकर) एक बजे से लिख रहा हूँ। पर चार पंक्तियाँ भी न लिखी जा सकीं।

पाठक—हिन्दी के लेखक की आज क्या दशा है, यह कौन

जाने ? क्या एक प्याला चाय···

नाटक०—उस पर ये पत्र-सम्पादक, जो उसे मुफ्त में परोपकार का उपदेश देकर उसे आसमान पर चढ़ाकर लूटते हैं, वे अलग। हाँ, चाय बनवाता हूँ। किरण!

(किरण का प्रवेश)

नाटक०—देखो दो प्याले। नहीं, नहीं, एक प्याला पाठक जी के लिये चाय तो बनवाओ। मैं नहीं पीऊँगा।

किरण—अच्छा। (चला जाता है)

पाठक—बात यह है मैं चार बजे के लगभग अवश्य पीता हूं। सोचा यहीं पी लूँ, नहीं तो कहीं किसी होटल में जाना पड़ता। न हो चलिये हम लोग 'क्रिस्टल' या और कहीं चाय पियें। आइये।

नाटक०—नहीं, इस समय तो मैं नहीं जाऊँगा। चार बज गये हैं, राशन लेने जाना होगा। फिर सही।

पाठक—फिर नहीं, एक प्याला सही। ज़रा जल्दी। (हाथ की घड़ी देखकर) मुझे भी एक जगह जाना था। खैर, फिर सही। देखिए, आप कृपा करके कविता जरूर हमें दीजिए। यदि कविता न दे सकें तो एक चटपटा ओजस्वी नाटक, पुरस्कार की चिंता न कीजिएगा। (याद करके) आपका पिछला पुरस्कार भी शेष है। क्या बताऊँ, याद नहीं रहता। हाँ, तो एक सुन्दर ओजस्वी नाटक या कविता।

नाटक०—देखिए, दिमाग में प्लॉट तो है, लिख सका तो दूँगा ही।

[किरण का रोते हुए प्रवेश]

किरण—पिताजी चलिए, जल्दी चलिए, प्रमोद के चोट लग गई। राशन की दुकान के सामने राशन लेते हुए झगड़ा हो गया। उसे किसी ने मार दिया।

नाटक०—(घबराकर) अच्छा, आज्ञा दीजिए। राशन लेने से पूर्व उसकी मरहम-पट्टी होना जरूरी है। देखूँ, क्या हुआ ? आप बैठिए, (चला जाता है)

पाठक—आप हो आइए। मैं बैठा हूँ। मेरे योग्य सेवा हो, तो अवश्य बताइएगा।

गृहिणी—(नेपथ्य से) इतनी भीड़ में उस लड़के को भेज दिया। अपने-आप तो जाया नहीं जाता। फालतू लोगों से बैठे हुए बातें करते रहते हैं। इन लोगों को भी कुछ काम नहीं है, रोज न जाने कहाँ से आ मरते हैं ! हाय ! हाय ! लड़के के चोट लग गई। न जाने क्या अवस्था होगी उसकी ? मेरा भाग्य तो उसी दिन फूट गया था जिस दिन इस घर में आई थी। न भर-पेट खाना, न तन को कपड़ा। यह बड़े-बड़े आदमियों में बैठते हैं, पर पेट से भूखे, पेट पर पट्टी बाँधकर। वे मुस्कराकर हाथ मिलाते हैं और इन्हें बच्चों की दरिद्रता, पीड़ा, गरीबी को दबाकर मुस्कराना पड़ता है, हँसना पड़ता है। इस गौरव को लेकर क्या करें—ओढ़ें या बिछावें ?

पाठक—(जोर से) मैं जा रहा हूँ। कविजी से कह दीजिएगा कि नाटक या कविता तैयार रखें, मैं कल आऊंगा। पुरस्कार

की चिंता न करें। कितना कष्ट हुआ बेचारों को! चाय···
कोई बात नहीं बाहर पी लूँगा। अच्छा।

[मकान वाले का प्रवेश]

मकान वाला—बाबू जी हैं क्या? बाबू जी!,

[गृहिणी आती है]

गृहिणी—आओ बाबू हीरालाल, बैठो। वे राशन लेने गए हैं, आते ही होंगे। वैसे मैंने किराये के लिए उनसे कह दिया था। एकाध दिन में किराया पहुँच जायगा। तुमने व्यर्थ कष्ट किया।

मकान०—किराये की कोई बात नहीं है। किराये के लिए तो तुम जानती हो मैं कभी आता ही नहीं। बात यह है इस समय इतनी मँहगाई बढ़ रही है कि जो मकान बनाये हैं उनकी मरम्मत भी पूरी नहीं होती।

गृहिणी—फिर क्या चाहते हो?

मकान०—फिर क्या, या तो किराया बढ़ाओ, नहीं तो मकान खाली कर दो। सब जगह किराया बढ़ गया है। बस, दूसरी बात कहने की आवश्यकता ही क्या है।

गृहिणी—मकान मिलता तो हम कभी का खाली कर देते। हमें इस मकान में कौन सुख है, पानी का कष्ट, गर्मियों में भट्टी हो जाता है। लू के ऐसे थपेड़े लगते हैं कि बच्चे बीमार हो जाते हैं। लोग पंखा चलाकर दोपहर को आराम करते होंगे, पर यहाँ तो एक साँस जाती है और एक आती

है। बच्चे गर्मी के मारे बिलबिला उठते हैं। मेरा खुद बुरा हाल है।

मकान०—मकान जैसा है -तुम्हारे सामने है। उसमें कुछ भी तबदीली नहीं हो सकती। खस की टट्टी लगवा लो। मैंने तो टट्टी लगवाई है। बड़ा आराम रहता है।

गृहिणी—टट्टी तो लगवा लें पर पानी कहाँ से लावें। पानी तो राजपूताने की तरह यहाँ दुर्लभ है। पानी वाले से कहते हैं वह कहता है दस रुपये में इससे अधिक पानी नहीं दिया जा सकता। पन्द्रह दो तो दो घड़े पानी और दे सकता हूँ। यह हाल है। क्या करें। कहाँ जायँ। जीना दूभर है।

मकान०—बाबूजी कब तक आ रहे हैं उन्हीं से बात करूँगा। कब तक लौट रहे हैं।

गृहिणी—आते ही होंगे।

मकान०—तो मैं अभी आया, ज़रा दूसरे किरायेवाले से मिल लूँ। मैंने निश्चय किया है मैं या तो किराये वालों को निकाल दूँगा। या फिर किराया बढ़वाऊँगा।

गृहिणी—मकान ख़ाली कराना तो आजकल बड़ा मुश्किल है भाई हीरालाल !

मकान०—(चुटकी बजाते हुए) मकान तो यों खाली होता है। जब मैं सामान निकाल कर घर से बाहर फिकवा दूँगा तब मालूम होगा। इस सर्किल का दारोगा मेरे भाई का दामाद है। उसने कहा है जो मकान खाली न करे मुझे

बताओ। साले को नाकों चने न चबवा दूँ तो बात नहीं। दस दिन तक तो शरारत में फाँसकर पुलिस कस्टडी में रखूँगा, मार पड़ेगी सो अलग। खाली कैसे नहीं होगा मकान।

गृहिणी—(डरकर) भैया, हमारे ऊपर तो मेहरबानी करो। वे आते हैं उनसे बातें करलो।

मकान०—हाँ, तुम उनसे कह देना। भलमनसाहत इसी में है कि सीधी तरह पचास फीसदी किराया बढ़ा दें। मैं अभी आया। आज दो टूक फैसला करके हो जाऊँगा।

(जाता है, गृहिणी भय से सिहर उठती है)

गृहिणी—न जाने कैसे दिन आ रहे हैं। (संतोष का प्रवेश)

संतोष—क्या है, क्या हुआ ?

गृहिणी—(लम्बी साँस लेकर) क्या हुआ। जिसको जिस तरह दूसरों से फ़ायदा उठाने का औसर मिलता है लाभ उठाता है। यह मकानवाला भी अफ़सर बन गया है बेटी !

(नाटककार का प्रवेश)

नाटक०—कुछ लोग आपस में लड़ने लगे। प्रमोद बीच में आ गया। लो राशन। चावल तो मिला नहीं।

गृहिणी—चावल कब मिलेगा ?

नाटक०—अगले सप्ताह शायद मिल जाय। जितना आया था समाप्त हो गया। समाप्त क्या हो गया। दुकानदार ने छिपा लिया। अब वह चोर बाजार में दुगने दाम लेकर बेचेगा। ओह, इतनी भीड़ है सचमुच आज का जीवन

भयंकर हो उठा है। अच्छा, अब तुम लोग जाओ। मैं ज़रा काम कर लूँ।

गृहिणी—वह मकानवाला फिर आया था। कह रहा था या तो पचास फी सदी किराया बढ़ाओ या मकान खाली कर दो। बहुत डींग हाँक रहा था—मैं सामान बाहर फिकवा दूंगा। सर्किल इन्सपेक्टर मेरा सम्बन्धी है।

नाटक०—अच्छा देखा जायगा। तुम जाओ। (सब लोग चले जाते हैं वह फिर लिखने बैठता है इतने में मकानवाले की आवाज़)

मकान०—बाबूजी आगये क्या ?

नाटक०—आइये लाला हीरालाल, आइये।

मकान०—(आकर सामने कुर्सी पर बैठकर) कहिये क्या हाल है ?

नाटक०—(परेशान-सा होकर) मैं पचास प्रतिशत किराया बढ़ा दूंगा। मैंने सब सुन लिया है। मुझे ज़रा काम करना है।

मकान०—कब से ! जनवरी से बढ़ाना होगा। अब जुलाई है।

नाटक०—(लम्बी आह भर कर) जनवरी से क्यों ?

मकान०—सब ने जनवरी से बढ़ाया है। मैं तो साफ़ आदमी हूँ। आप भी…।

नाटक०—यह तो अन्याय है भाई हीरालाल। यदि जनवरी से बढ़ाना था तो जनवरी में कहते।

मकान०—मैंने तो यही फैसला किया है।

नाटक०—दो साल पहले का भी तो फैसला किया जा सकता है। आखिर कोई कारण भी तो हो। तुम लोग समझते हो किरायेदारों को जैसे दबाया जा सके वैसे दबाओ। जितना

लूटा जा सके, लूटो।

मकान०—यह बात नहीं है बाबू साहब ! आखिर हम कहाँ से खायँ। हमने इतना रुपया मकानों में लगाया है कैसे वसूल हो। इतने किराये से तो मरम्मत भी नहीं होती। सब चीजें इतनी मँहगी हैं ब्याज भी नहीं मिलता।

नाटक०—मँहगाई है तो गरीब ही लूटने को रह गए हैं कमजोर ही दबाने को रह गए हैं ? हमसे पूछो हम किस से मँहगाई का रोना रोयें। कालेज वालों ने साढ़े बारह परसेण्ट भत्ता दिया है। क्या मंहगाई साढ़े बारह परसेण्ट चढ़ी है ? आप जाइये मैं जुलाई से पचास प्रतिशत किराया बढ़ा दूंगा।

मकान०—(उठता हुआ) देना तो आपको जनवरी से ही पड़ेगा।

नाटक०—(तमककर) कोई कारण भी तो हो।

मकान०—कारण कोई भी नहीं। मैं मकान-मालिक हूँ। मेरा मकान है। नहीं देते तो खाली कर दो। तुम्हारे-जैसे बीसों मिल जायँगे। एक बार फिर कहे देता हूँ जनवरी से पचास परसेण्ट किराया बढ़ाकर दुकान पर पहुँचा देना, नहीं तो ठीक न होगा। मेरी नींव बहुत गहरी है बाबू साहब ! समझे।

नाटक०—(उत्तेजित होकर) तुम्हारी नींव बहुत गहरी है तो हम लोगों को मारकर सब सामान भी तो उठा ले जा सकते हो। उसके बाद मकान फिर दुगने-तिगुने किराये पर चढ़ा

देना, यह क्यों नहीं करते।

मकान०—हम मारते नहीं हैं। यह काम हमारा नहीं है।

नाटक०—तुम तपेदिक के रोगी के तरह गरीब को घुला-घुलाकर मारते हो, जोंक की तरह धीरे-धीरे खून चूसते हो। अवसर से लाभ उठाकर अपनी तिजोरियाँ भरते हो। मनुष्य के शत्रु हो, पर पत्थर से मित्रता करते हो। अच्छा हम चाहें भूखे रहें, प्यासे रहें, नंगे रहें पर तुम्हारा किराया देंगे। नहीं तो सारा सामान दरोगा से मिलकर बाहर फिंकवा दोगे। दस-पाँच दिन थाने में रखकर पिटवाओगे।

मकान०—(हँसकर) अब आप मेरा मतलब समझ गए हैं। हाँ, तो जरा जल्दी भिजवाइयेगा।

नाटक०—(धीरे-धीरे क्रोध-मिश्रित उत्तेजना से) इसके बाद घर कुड़की कर मकान का किराया वसूल कर लोगे। स्त्री-बच्चों को सड़क पर निकालकर भीख माँगने को मजबूर कर दोगे।

मकान०—नहीं ऐसा क्यों होगा ? आप हमारा किराया देते जाइये, बस।

नाटक०—तुम जानते हो मैं कौन हूँ ? (क्रोध से) मैं वह हूँ जो तुम्हारे अत्याचारों को संसार के सामने खोलकर रख दूँगा। तुम्हारे विरुद्ध, तुम्हारी प्रकृति के विरुद्ध, तुम्हारे अत्याचारों के विरुद्ध जन-मत खड़ा कर दूँगा। तुम पापी, नींच, हत्यारे, सिवा अपने पेट के, अपने स्वार्थ के, सिवा अपनी तिजोरियाँ भरने के और मनुष्यों को कीड़ों की

तरह समझते हो। जो चाहते हो वह करते हो। जितना चाहो उतना किराया बढ़ा लो। जो चाहो करो। तुम्हें कोई रोकने वाला नहीं है। जाओ मैं तुम्हें सिवा तुम्हारे किराये के और एक पाई भी न दूँगा। जो चाहो कर लो। मैं देखूँगा कौन है जो किराया बढ़वाता है। जाओ, चले जाओ यहाँ से। यदि तुमने मेरी आज्ञा के बिना घर में पैर रखा तो पैर तोड़ दूँगा। (उठकर) जाओ। मैं आज ही तुम्हारा किस्सा अखबारों में देता हूँ।

मकान०—आप नाराज न होइये बाबू साहब! मैं किराया ले लूँगा। (चला जाता है)

नाटक०—(गर्जकर) गया कि नहीं। धूर्त, तुझे मैं आज ही भरपूर किराया दूँगा। तुम कल ही अखबारों में इस किराये की कथा पढ़ोगे। (नाटककार क्रोधावेश में उठकर टहलने लगता है। पत्नी, कन्या दोनों आकर नाटककार की दशा देखते रहते हैं।) आज यही नाटक लिखना होगा जीना दूभर कर दिया है दुष्टों ने। मनुष्यता रह ही नहीं गई है।...(टहलता रहकर) सारा संसार पूंजीपति अजगर के मुंह में धीरे-धीरे घुस रहा है। निरुपाय, निर्बल, असहाय। मैं अकेला नहीं हूँ। सारा संसार इसी रोग से ग्रस्त है। जीवन विष बन गया है। (फिर लिखने बैठ जाता है कि इतने में कुली के सिर पर बिस्तर रखे एक सज्जन प्रवेश करते हैं।) अरे त्रिभुवन, तुम कहाँ, (उठता है) नमस्कार।

त्रिभुवन—नमस्कार, अभी कलकत्ते से चला आ रहा हूँ। कहो

क्या हाल-चाल है ? (आराम से कुर्सी पर बैठकर कुली से) अरे कितने पैसे लेगा बोल ! (दुअन्नी फेंककर) ले भाग जा।

कुली—साहब ! यह तो बहुत थोड़े हैं। चार आने दीजिये।

त्रिभुवन—बको मत, दो आने से ज्यादा न मिलेगा। लूट मचा रखी है तुम लोगों ने।

कुली—मैं नहीं लेता, ये रखे आपके पैसे।

नाटक०—चार आने अनुचित नहीं माँग रहा है। काफी ऊँचा मकान है।

त्रिभुवन—तुम्हीं ने ऐसे लोगों का दिमाग खराब कर दिया है, लेखक हो न ? साम्यवादी। मेरा वश चले तो हर लेखक को पकड़ कर जेल में डलवा दूँ। अच्छा ले, तू भी क्या कहेगा ?

नाटक०—साम्यवाद लूट, आपा-धापी का शत्रु है। वह मालदार का शत्रु है।

त्रिभुवन—अच्छा जाने दो। मुझे तुम्हारे व्याख्यान सुनने का समय नहीं है। (कुली चला जाता है) सुनो, मैं अभी खाना खाकर बाहर जाऊँगा। खाना जल्दी बनाने को कह दो। मैं जिस आदमी के पास जा रहा हूँ उसे तुम जानते हो। मुझे मालूम है वह तुम्हारा गहरा मित्र है बस, मेरा परिचय भर करा देना। फिर मैं देख लूंगा। पच्चीस हजार का सौदा है। यदि आवश्यकता पड़े तो दो चार सौ दे दूँगा। उसके बाद सिनेमा चलेंगे।

नाटक०—तुम मुझसे बेईमानी का काम कराना चाहते हो। यह मुझसे न होगा। तुम स्वयं जाकर अपनी बात कह लो।

त्रिभुवन—सुनो, इसमें तुम्हारा तो कुछ बिगड़ता नहीं है। मेरा लाभ है। यदि तुम्हारे कारण मुझे लाभ हो तो तुम्हारी क्या हानि है ? तुम इतना भी कह देना कि ये विश्वस्त तथा प्रतिष्ठित आदमी हैं।

नाटक०—विश्वस्त तथा प्रतिष्ठित आदमी तो भूखा मरता है, त्रिभुवन ! तुम ठहरे रुपया कमाने वाले, तुम्हारे मत में झूठ, बेईमानी सभी तो ठीक हैं। वैसे तुम ठहरो, खाओ, पर यह काम तो मुझसे न होगा। जो स्वयं मैं अपने लिये नहीं करता उसमें किसी की सहायता भी नहीं कर सकता।

त्रिभुवन—(तुनक कर) तुम्हारे भूखे मरने का यही कारण है कि तुम समय से लाभ उठाना नहीं जानते। (सोचकर) अच्छा तुम भी कुछ ले लेना। लो उठो, खाना तैयार करने को कह दो।

नाटक०—नहीं, यह नहीं हो सकता। मित्रता के लिये मैं पाप नहीं कर सकता।

त्रिभुवन—अजब अहमक हो जी ! कहता हूँ तुम भी कुछ ले लेना। अच्छा तुम क्या चाहते हो ?

नाटक०—यही कि जिस उद्देश्य से तुम मेरे पास आकर ठहरे हो वह मेरे द्वारा असम्भव है। मैं जानता हूँ मैं तुम्हारे यहाँ काम करता था। तुमने मेरी दयनीय दशा देखकर भी

सौ के सवा सौ नहीं किये; बिना नोटिस दिये निकाल दिया। वह इसलिये कि मैंने तुम्हारे बनावटी व्यापार में पत्र द्वारा सहायता नहीं की। जब मैंने उस समय तुम्हारी सहायता नहीं की, तब अब मैं वह काम नहीं करूँगा जिसके लिये मेरी आत्मा गवाही नहीं देती। वैसे तुम ठहरो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

त्रिभुवन—मुझे टाँगा मँगा दो। मैं अभी लौटूँगा। मुझे तुमसे ऐसी आशा नहीं थी। तुम सच्चे बने रहो और भूखे मरो। मेरे कहने पर चलते तो अब तक दो एक लाख के आदमी होते। मैं नहीं जानता था कि अभी तक ईमानदारी का भूत सवार है। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है एक हजार तक तुम्हें दे सकता हूँ।

नाटक०—प्रमोद टांगा ले आ और आदमी को बुलाकर सामान नीचे रखवा दे।

त्रिभुवन—हाँ ले आ भाई! मैं होटल में ठहरूँगा।

[त्रिभुवन सामान लेकर नीचे चला जाता है। नाटककार लिखने लगता है।]

पत्नी—तुम्हें कभी अकल भी आयगी? एक हजार पर लात मार दी। लो उठो। आज शाम के लिये घी तो है नहीं। जाओ पहले घी ले आओ।

नाटक०—आज हम रूखी खा लेंगे। तुम जाओ मुझे लिखने दो। जाओ।

[नाटककार लिखने लगता है। गृहिणी का स्वर सुनाई देता है। न जाने कैसे इस गृहस्थी की नाव पार लगेगी ?]

संतोष—भाभी, हमें गर्व है कि हमारे पिताजी इतने सच्चे हैं। ईश्वर करे हम इनके चरण-चिन्हों पर चल सकें।

॥ समाप्त ॥

नए मेहमान

पात्र

विश्वनाथ

रेवती

प्रमोद

किरण

संतोष

बाबूलाल

नन्हेमल

आगन्तुक

पड़ौसी

[गरमी की ऋतु, रात के आठ बजे का समय। कमरे के पूर्व की ओर दो दरवाजे। दक्षिण का द्वार बाहर आनेजाने के लिए। पश्चिम का द्वार भीतर खुलता है। उत्तर की ओर एक मेज़ है, जिस पर कुछ किताबें और अखबार रखे हैं। पास ही दो कुर्सियाँ; पश्चिम के द्वार के पास एक पलंग बिछा है। मेज़ पर रखा हुआ पुराना पंखा चल रहा है, जिस से बहुत कम हवा आ रही है। कमरा बेहद गरम है। मकान एक साधारण गृहस्थ का है। पलंग के पास चारपाँच साल का एक बच्चा सो रहा है। पंखे की हवा केवल उस बच्चे को लग रही है। फिर भी वह पसीने से तर है। इसी लिये वह कभी-कभी बेचैन हो उठता है, फिर सो जाता है।

कुरताधोती पहने एक व्यक्ति प्रवेश करता है। पसीने से उसके कपड़े तर हैं। कुरता उतार कर वह खूँटी पर टाँग देता है और हाथ के पंखे से बच्चे को हवा करता है। उसका नाम विश्वनाथ है। उमर ४२ वर्ष, गठा हुआ शरीर, गेहुँआ रंग, मुख पर गंभीरता तथा सुसंस्कृति के चिह्न।]

विश्वनाथ—ओफ़, बड़ी गरमी है! (पंखा जोरजोर से करने लगता है) इन बंद मकानों में रहना कितना भयंकर है। मकान है कि भट्टी!

[पश्चिम के ओर से एक स्त्री प्रवेश करती है]

रेवती—(आँचल से मुँह का पसीना पोंछती हुई) पत्ता तक नहीं हिल रहा है। जैसे साँस बंद हो जायगी। सिर फटा जा रहा है (सिर दबाती है।)

विश्वनाथ—पानी पीते-पीते पेट फूला जा रहा है, और प्यास है है कि बुझने का नाम नहीं लेती। अभी चार गिलास पी कर आया हूँ, फिर भी होंठ सूख रहे हैं। एक गिलास पानी और पिला दो। ठंडा तो क्या होगा!

रेवती—गरम है। आँगन में घड़े में भी तो पानी ठंडा नहीं होता—हवा लगे तब तो ठंडा हो। जाने कब तक इस जेलखाने में सड़ना होगा।

विश्वनाथ—मकान मिलता ही नहीं। आज दो साल से दिनरात एक करके ढूँढ़ रहा हूँ। हाँ, पानी तो ले आओ, जरा गला ही तर करलूँ।

रेवती—बरफ़ ले आते। पर मरी बरफ़ भी कोई कहाँ तक पिए।

विश्वनाथ—बरफ़! बरफ़ का पानी पीने से क्या फ़ायदा? प्यास जैसी की तैसी, बल्कि दुगुनी लगती है। ओफ़! लो, पंखा करलो। बच्चे क्या ऊपर हैं?

रेवती—रहने दो, तुम्हीं करो। छत इतनी छोटी है कि पूरी खाटें भी तो नहीं आतीं। एक खाट पर दो-दो तीन-तीन बच्चे सोते हैं, तब भी पूरा नहीं पड़ता।

विश्वनाथ—एक यह पड़ौसी हैं, निर्दय, जो ख़ाली छत पड़ी

रहने पर भी बच्चों के लिए एक खाट नहीं बिछाने देंगे।

रेवती—वे तो हमें मुसीबत में देख कर प्रसन्न होते हैं। उस दिन मैंने कहा, तो लाला की औरत बोली, 'क्या छत तुम्हारे लिए है? नक़द पचास देते हैं, तब चार खाटों की जगह मिली है। न, बाबा, यह नहीं हो सकेगा। मैं खाट नहीं बिछाने दूँगी। सब हवा रुक जायगी। उन्हें और किसी को सोता देख कर नींद नहीं आती।'

विश्वनाथ—पर बच्चों के सोने में क्या हर्ज है? ज़रा आराम से सो सकेंगे। कहो तो मैं कहूँ?

रेवती—क्या फ़ायदा? अगर लाला मान भी लेगा, तो वह दुष्टा नहीं मानेगी। वैसे भी मैं उसकी छत पर बच्चों का अकेला सोना पसंद नहीं करूँगी, बड़ी डायन औरत है। उसके तो बालबच्चे हैं नहीं, कहीं कुछ कर दे तब?

विश्वनाथ—फिर जाने दो। मैं नीचे आँगन में सो जाया करूँगा। कमरे में भला क्या सोया जाएगा। मैं कभी-कभी सोचता हूँ यदि कोई अतिथि आ जाए, तो क्या होगा?

रेवती—ईश्वर करे इन दिनों कोई मेहमान न आए। मैं तो वैसे ही गरमी के मारे मर रही हूँ। पिछले पंद्रह दिन से दर्द के मारे सिर फट रहा है। मैं ही जानती हूँ जैसे रोटी बनाती हूँ।

विश्वनाथ—सारे शहर में जैसे आग बरस रही हो। यहाँ की गरमी से तो ईश्वर बचाए। इसी लिए यहाँ गरमियों में सभी संपन्न लोग पहाड़ों पर चले जाते हैं।

रेवती—चले जाते होंगे। ग़रीबों की तो मौत है।

[रेवती जाती है। बच्चा गरमी से घबरा उठता है। विश्वनाथ ज़ोरज़ोर से पंखा करता है।

विश्वनाथ—इन सुकुमार बालकों का क्या अपराध है? इन्होंने क्या बिगाड़ा है? तमाम शरीर मारे गरमी के उबल उठा है।

[रेवती पानी का गिलास लेकर आती है]

रेवती—बड़े का तो अभी तक बुरा हाल है। अब भी कभी-कभी देह गरम हो जाती है।

विश्वनाथ—(पानी पीकर) उसने क्या कम बीमारी भोगी है—पूरे तीन महीने तो पड़ा रहा। वह तो कहो मैंने उसे शिमला भेज दिया। नहीं तो न जाने...

रेवती—भगवान ने रक्षा की। देखा नहीं, सामने वाली की लड़की को फिर से टाइफ़ाइड हो गया और वह चल बसी। तुम कुछ दिनों की छुट्टी क्यों नहीं ले लेते। मुझे डर है, कहीं कोई बीमार न पड़ जाए!

विश्वनाथ—छुट्टी कोई दे तब न। छुट्टी ले भी लूँ तो खर्च चाहिए। ख़ैर, तुम आज जा कर ऊपर सो जाओ। मैं आँगन में खाट डाल कर पड़ा रहूँगा। बच्चे को ले जाओ। यह गरमी में भुन रहा है।

रेवती—यह नहीं हो सकता। मैं नीचे सो जाऊँगी। तुम ऊपर छत पर जाकर सो जाओ। और ऊपर भी क्या हवा है चारों तरफ़ दीवारें तप रही हैं। तुम्हीं जाओ ऊपर।

विश्वनाथ—यही तो तुम्हारी बुरी आदत है। किसी का कहना

न मानोगी, बस अपनी ही हाँके जाओगी। पंद्रह दिन से सिर में दर्द हो रहा है। मैं कहता हूँ खुली हवा में सो जाओगी तो तबीअत ठीक हो जाएगी।

रेवती—तुम तो व्यर्थ की ज़िद करते हो। भला यहाँ आँगन में तुम्हें नींद आएगी? बंद मकान, हवा का नाम नहीं। रात भर नींद न आएगी। सवेरे काम पर जाना है। जाओ। मेरा क्या है, पड़ी रहूँगी।

विश्वनाथ—नहीं, यह नहीं हो सकता। आज तो तुम्हें ऊपर सोना पड़ेगा। वैसे भी मुझे कुछ काम करना है।

रेवती—ऐसी गरमी में क्या काम करोगे? तुम्हें भी न जाने क्या धुन सवार हो जाती है। जाओ, सो जाओ। मैं आँगन में खाट पर इसे ले कर जैसे-तैसे रात काट लूँगी। जाओ।

विश्वनाथ—अच्छा तुम जानो। मैं तो तुम्हारी भलाई के लिए कह रहा था। मैं ही ऊपर जाता हूँ।

[बाहर से कोई दरवाज़ा खटखटाता है।]

रेवती—कौन होगा?

विश्वनाथ—न जाने। देखता हूँ।

रेवती—हे भगवान, कोई मुसीबत न आजाए।

[बच्चे को पंखा करती है बच्चा गरमी के मारे घबरा कर उठ बैठता है, और पानी माँगता है। वह बच्चे को पानी पिलाती है, पंखा करती है। इसी समय दो व्यक्तियों के साथ विश्वनाथ प्रवेश करता है। रेवती बच्चे को लेकर आँगन में चली जाती है। आगंतुक एक साधारण

बिस्तर तथा एक संदूक लेकर कमरे में प्रवेश करते हैं। विश्वनाथ भी पीछे-पीछे आता है। कमीज़ों के ऊपर काली वंढी, सिर पर सफ़ेद पगड़ियाँ। बड़े की अवस्था पैंतीस और छोटे की चौबीस है। रंग साँवला, बड़े की मूँछें मुँह को घेरे हुए, माथे पर सिलवट। छोटे की अधकटी मूँछें, लंबा मुख और बड़े-बड़े दाँत। दोन मैली धोतियाँ पहने हैं। बड़े का नाम नन्हेमल और छोटे का बाबूलाल है। इस हबड़-तबड़ में दोनों बच्चे ऊपर से उतर कर आते हैं, और दरवाज़ेके पास खड़े होकर आगंतुकों को देखते हैं।]

विश्वनाथ : (बड़े लड़के से) प्रमोद, ज़रा कुरसी इधर खिसका दो, (दूसरे अतिथि से) आप इधर खाट पर आजाइए ! ज़रा पंखा तेज़ कर देना, किरण।

[किरण पंखा तेज़ करता है, किंतु पंखा वैसे ही चलता है।]

नन्हेमल—(पगड़ी के पल्ले से मुँह का पसीना पोंछ कर उसी से हवा करता हुआ) बड़ी गरमी है। क्या कहें, पंडित जी, पैदल चले आ रहे हैं। कपड़े तो ऐसे हो गए हैं कि निचोड़लो।

विश्वनाथ—जी, आप लोग ...

बाबूलाल—चाचा, मेरे कपड़े निचोड़ कर देख लो, एक लोटे से कम पसीना नहीं निकलेगा। धोती ऐसी चर्रा रही है, जैसे पुरानी हो। पिछले दिनों नक़द नौ रुपए खर्च कर के ख़रीदी थी।

नन्हेमल—मोतीराम की दुकान से ली होगी। बड़ा मक्कार है। मैंने भी कुरतों के लिए छः गज़ मलमल मोल ली थी, सवा

रुपए गज़ दी, जब कि नत्थामल के यहाँ साढ़े नौ आने गज बिक रही थी, पंडित जी, गला सूखा जा रहा है। स्टेशन पर पानी भी नहीं मिला, मन करता है लेमन की पाँच छः बोतलें पी जाऊँ,

बाबूलाल—मुझे कोई पिला कर देखे, दस से कम नहीं पीऊँगा, (बच्चों की ओर देख कर) क्या नाम है तुम्हारा, भाई ?

प्रमोद—प्रमोद।

किरण—किरण।

बाबूलाल—ठंडा-ठंडा पानी पिलाओ दोस्त, प्राण सूखे जा रहे हैं।

विश्वनाथ—देखो, प्रमोद, कहीं से बरफ़ मिले तो लेआओ, आप लोग...

नन्हेमल—अपना लोटा कहाँ रखा है ? थैले में ही है न ?

बाबूलाल—बिस्तर में होगा, चाचा, निकालूँ क्या ? और तो और बिस्तर भी पसीने से भीग गया, चाचा, मैं तो पहले नहाऊँगा, फिर जो होगा देखा जाएगा, हाँ, नहीं तो। मुझे नहीं मालूम था यहाँ इतनी गरमी है।

नन्हेमल—देखते जाओ। हाँ साहब।

विश्वनाथ—क्षमा कीजिएगा, आप कहाँ से पधारे हैं ?

नन्हेमल—अरे, आप नहीं जानते ! वह लाला संपतराम हैं न गोटेवाले, वह मेरे चचेरे भाई हैं, क्या बताएँ साहब, उन बेचारों का कारबार सब चौपट हो गया, हम लोगों के देखते देखते वह लाखों के आदमी ख़ाक में मिल गए। बाबू, लो

यह मेरी बंडी संदूक में रख दो।

विश्वनाथ—कौन संपतराम ?

बाबूलाल—अरे, वही गोटेवाले। लाओ न, चाचा (सन्दूक खोल कर बंडी रखते हुए) माल-मसाला तो अंटी में है न?

नन्हेमल—नहीं, जेब में है, बंडी की जेब में है। अब डर की क्या बात है! घर ही तो है। जरा बीड़ी का बंडल तो मेरी जेब से निकाल।

बाबूलाल—बीड़ी तो मेरे पास भी है—लो। ज़रा, भाई, दीया-सलाई ले आना।

किरण—अभी लाया।

[जाता है और लौट कर दीयासलाई देता है दोनों बीड़ी पीते हैं।]

विश्वनाथ—मैं संपतराम को नहीं जानता।

नन्हेमल—संपतराम को जानने की...क्यों, वह तो आप से मिले हैं। आपकी तो वह...

बाबूलाल—हाँ, उन्होंने कई बार मुझ से कहा है। आपकी तो वह बहुत तारीफ़ करते हैं। पंडित जी, क्या मकान इतना ही बड़ा है ?

नन्हेमल—देख नहीं रहे, इसके भी पीछे एक कमरा दिखाई देता है। पंडित जी, इसके पीछे आँगन होगा और ऊपर छत होगी ? शहर में तो ऐसे ही मकान होते हैं।

किरण—(विश्वनाथ से) माँ पूछती हैं खाना...

नन्हेमल—क्यों, बाबूलाल ? पंडित जी, कष्ट तो होगा, पर तुम जानो खाना तो...

बाबूलाल—बस, एक साग और पूरी।

नन्हेमल—वैसे तो मैं पराँठे भी खा लेता हूँ।

बाबूलाल—अरे, खाने की भली चलाई, पेट ही तो भरना है। शहर में आए हैं, तो किसी को तकलीफ़ थोड़े ही देंगे, देखिए पंडित जी, जिस में आपको आराम हो, हम तो रोटी भी खालेंगे। कल फिर देखी जाएगी।

नन्हेमल—भूख कब तक नहीं लगेगी—सारा दिन तो हो गया।

बाबूलाल—नहाने का प्रबंध तो होगा, पंडित जी?

[प्रमोद बरफ़ का पानी लाता है।]

नन्हेमल—हाँ, भैया, ला तो ज़रा मैं तो डेढ़ लोटा पानी पीऊँगा।

बाबूलाल—उतना ही मैं भी।

[दोनों गटगट पानी पीते हैं।]

किरण—(विश्वनाथ से धीरे से) फिर खाना ?

विश्वनाथ—(इशारे से) ठहरजा ज़रा।

नन्हेमल—(पानी पीकर) आ अब जान में जान आई। सचमुच गरमी में पानी ही तो जान है।

बाबूलाल—पानी भी खूब ठंडा है वाह भैया, खुश रहो।

नन्हेमल—कितने सीधे लड़के हैं।

बाबूलाल—शहर के हैं न !

विश्वनाथ—क्षमा कीजिए, मैंने आपको...

दोनों—अरे पंडितजी, आप कैसी बातें करते हैं ? हम तो आपके पास के हैं।

विश्वनाथ—आप कहाँ से आए हैं ?

नन्हेमल—बिजनौर से ।

विश्वनाथ—(आश्चर्य से) बिजनौर से ! बिजनौर में तो... ।
मैं बिजनौर गया हूँ, किन्तु......

नन्हेमल—मैं ज़रा नहाना चाहता हूँ ।

बाबूलाल—मैं भी स्नान करूँगा ।

विश्वनाथ—पानी तो नल में शायद ही हो, फिर भी देखलो ।
प्रमोद, इन्हें नीचे नल पर लेजाओ ।

बाबूलाल—तब तक खाना भी तैयार हो जाएगा ।

[दोनों बाहर निकल जाते हैं, रेवती का प्रवेश]

रेवती—ये लोग कौन हैं ? जान पहचान के तो मालूम नहीं
पड़ते ।

विश्वनाथ—न जाने कौन हैं ।

रेवती—पूछलो न ?

विश्वनाथ—क्या पूछलूँ ? दो तीन बार पूछा ठीक ठीक उत्तर
ही नहीं देते ।

रेवती—मेरा तो दर्द के मारे सिर फटा जा रहा है, इधर पिछली
शिकायत फिर बढ़ती जा रही है, पहले सोते-सोते हाथ पैर
सुन्न हो जाते थे, अब बैठे ही बैठे सो जाते हैं ।

विश्वनाथ—क्या बताऊँ, जीवन में तुम्हें कोई सुख न दे सका ।
नौकर भी नहीं टिकता है ।

रेवती—पानी जो तीन मंजिल ऊपर चढ़ाना पड़ता है, इसीलिए
भाग जाता है, और गरमी क्या कम है ! किसी को क्या

जरूरत पड़ी है जो गरमी में भुने, यह तो हमारा ही भाग्य है कि चने की तरह भाड़ में भुनते रहते हैं।

विश्वनाथ—क्या किया जाय ?

रेवती—फिर क्या खाना बनाना ही होगा ? पर ये हैं कौन ?

विश्वनाथ—खाना तो बनाना ही पड़ेगा, कोई भी हों, जब आए हैं तो खाना जरूर खाँएगे, थोड़ा सा बनालो ?

रेवती—(तनककर) खाना तो खिलाना ही होगा—तुम भी खूब हो! भला इस तरह कैसे काम चलेगा ? दर्द के मारे तो सिर फटा जारहा है, फिर खाना बनाना इनके लिए और इस समय ? आखिर ये आये कहाँ से हैं ?

विश्वनाथ—कहते हैं बिजनौर से आये हैं।

रेवती—(आश्चर्य से) बिजनौर ! क्या बिजनौर में तुम्हारी जान पहचान है ? अपनी बिरादरी का तो कोई आदमी वहाँ रहता नहीं है ?

विश्वनाथ—बहुत दिन हुए एकबार काम से बिजनौर गया था, पर तब से अब तो बीस साल हो गए हैं।

रेवती—सोचलो, शायद वहाँ कोई साहित्यिक मित्र हो, उसीने इन्हें भेजा हो।

विश्वनाथ—ध्यान तो नहीं आता, फिर भी कदाचित् कोई मुझे जानता हो और उसी ने भेजा हो, किसी संपतराम का नाम बता रहे थे, मैं जानता भी नहीं।

रेवती—बड़ी मुश्किल है, मैं खाना नहीं बनाऊँगी, पहले आत्मा फिर परमात्मा; जब शरीर ही ठीक नहीं रहता तो फिर

और क्या करूँ ।

विश्वनाथ—क्या कहेंगे कि रात भर भूखा मारा, बाज़ार से कुछ मँगा दो न ?

रेवती—बाज़ार से क्या मुफ्त में आजाएगा ? तीन चार रुपए से कम में क्या इनका पेट भरेगा, पहले तुम पूछलो, मैं बाद में खाना बनाऊँगी ।

[बाबूलाल का प्रवेश, रेवती का दूसरी ओर से जाना]

बाबूलाल—तबीयत अब शांत हुई है, फिर भी पसीने से नहा गया हूँ । न जाने पंडितजी, आप यहाँ कैसे रहते हैं ! (पंखा करता है)

विश्वनाथ—आठ नौ लाख आदमी इस शहर में रहते हैं, और छः सात लाख आदमी इसी तरह के मकानों में रहते हैं ।

[ऊपर छत पर शोर मचता है]

क्या बात है ? कैसा झगड़ा है, प्रमोद ?

प्रमोद—(आकर) उन्होंने दूसरी छत पर हाथ धो लिए, पानी फैल गया, इसीलिए वह पड़ौसी की स्त्री चिल्ला रही है । मैंने कहा, 'सवेरे साफ़ करा देंगे, इन्हें मालूम नहीं था ।'

विश्वनाथ—तुमने क्यों नहीं बताया कि हाथ दूसरी जगह धोओ ।

प्रमोद—मैं पानी पीने अपनी छत पर चला गया था । वहाँ उषा रोने लगी । उसे चुप कराया, पानी पिलाया और पंखा करता रहा ।

विश्वनाथ—चलो कोई बात नहीं । उन से कह दो कि सवेरे

साफ़ करा देंगे।

[नेपथ्य में—'अरे बाबू, मेरी धोती दे देना। मैं भी नहालूँ।']

बाबूलाल—लाया चाचा। (जाता है)

[पड़ोसी का तेज़ी से प्रवेश।]

पड़ोसी—देखिए साहब, मेहमान आपके होंगे, मेरे नहीं। मैं यह नहीं बर्दाश्त कर सकता कि मेरी छत पर इस तरह गंदा पानी फैलाया जाए। सारी छत गंदी कर दी।

विश्वनाथ—वाक़ई ग़लती हो गई। कल सवेरे साफ़ करा दूँगा।

पड़ोसी—आप से रोज़ ही ग़लती होती है।

विश्वनाथ—अनजान आदमी से ग़लती हो ही जाती है। उसे क्षमा कर देना चाहिए। कल से ऐसा नहीं होगा।

पड़ोसी—होगा क्यों नहीं रोज़ होगा। रोज़ होता है। अभी उसी दिन आपके एक और मेहमान ने पानी फैला दिया था। फिर हमारी खाट बिछा कर लेट गया था।

विश्वनाथ—मैंने समझा तो दिया था। फिर तो वह आदमी खाट पर नहीं लेटा था।

पड़ोसी—तो आपके यहाँ इतने मेहमान आते ही क्यों हैं? यदि मेहमान बुलाने हों, तो बड़ा सा मकान लो।

विश्वनाथ—यह भी आपने ख़ूब कहा कि इतने मेहमान क्यों आते हैं! अरे भाई मेहमानों को क्या मैं बुलाता हूँ? ख़ैर, आज क्षमा करें, अब आगे ऐसा नहीं होगा।

पड़ोसी—कहाँ तक कोई क्षमा करे। क्षमा, क्षमा! बस एक ही बात याद करली है क्षमा!

[चला जाता है। दोनों अतिथि आते हैं।]

दोनों—क्या बात है?

विश्वनाथ—कुछ नहीं, आप धोतियाँ छज्जे पर सुखा दें।

नन्हेमल—ले बाबू, डाल तो दे, और ला, बीड़ी निकाल।

बाबूलाल—मेरी जेब से ले लो। (चला जाता है।)

नन्हेमल—सचमुच हमारी वजह से आपको बड़ा कष्ट हुआ। (बैठ कर बीड़ी सुलगाता है) भैया, जरा सा पानी और पिला दो। उफ़, बड़ी गरमी है। हाँ साहब, खाने में क्या देरदार है? बात यह है कि नींद बड़े ज़ोर से आ रही है।

विश्वनाथ—देखिए, मैं आप से एक दो बातें पूछना चाहता हूँ।

दोनों—हाँ, हाँ, पूछिये, मालूम होता है। आपने हमें पहचाना नहीं है।

विश्वनाथ—जी हाँ, बात यह है कि मैं बिजनौर गया तो अवश्य हूँ, पर बहुत दिन हो गए हैं।

नन्हेमल—तो क्या हर्ज है—कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है। हम तो आपको जानते हैं। कई बार आपको देखा भी है।

बाबूलाल—लाला भानामल की लड़की की शादी में आप नजीबाबाद गए थे?

नन्हेमल—अरे, दूर क्यों जाते हो। अभी पिछले साल आप मुरादाबाद गए थे?

विश्वनाथ—हाँ, पिछले साल मैं लखनऊ जाते हुए दो दिन के लिये जगदीशप्रसाद के पास मुरादाबाद ठहरा था।

नन्हेमल—हाँ, सेठ जगदीश प्रसाद के यहाँ हमने आपको देखा था।

बाबूलाल—उनकी आटे की मिल है, क्या कहने हैं उनके—बड़े आदमी हैं। हम उन्हीं के रिश्तेदार हैं।

विश्वनाथ—पर उनका तो प्रेस है।

नन्हेमल—प्रेस भी होगा। उनकी एक बड़ी मिल भी है। अब एक और गन्ने की मिल बिजनौर में खुल रही है।

बाबूलाल—अगले महीने तक खुल जायगी। हाँ भैया, पानी लेआए, लो चाचा, पहले तुम पीलो।

विश्वनाथ—तो आप कोई चिट्ठी-विट्ठी लाए हैं ?

दोनों—(सकपका कर) चिट्ठी, चिट्ठी तो नहीं लाए हैं।

नन्हेमल—संपतराम ने कहा था कि स्टेशन से उतर कर सीधे रेलवे रोड चले जाना। वहाँ कृष्ण गली में वह रहते हैं।

विश्वनाथ—पर कृष्ण गली तो यहाँ छः हैं। कौन सी गली में बताया था ?

नन्हेमल—छः हैं ! बहुत बड़ा शहर है साहब ! हमें तो यह मालूम नहीं है, शायद बताया हो। याद ही नहीं रहा।

विश्वनाथ—(खीझ कर) जिसके यहाँ आपको जाना है, उसका नाम भी तो बताया होगा ?

बाबूलाल—क्या नाम था चाचा ?

नन्हेमल—नाम तो याद नहीं आता। जरा ठहरिए, सोचलूँ।

बाबूलाल—अरे चाचा, कविराज या कवि बताया था। मैं उस

समय नहीं था। सामान लेने घर गया था। तुम्हीं ने रेल में बताया था।

नन्हेमल—हाँ, साहब, कविराज बताया था। आप तो बेकार शक में पड़े हैं। हम कोई चोर थोड़े ही हैं।

बाबूलाल—चोर छिपे थोड़े ही रहते हैं। पंडितजी, क्या बताएँ, हमारे घर चल कर देखलें, तो पता लगेगा कि हम भी...

नन्हेमल—चुप, एक बीड़ी और निकाल बाबू।

बाबूलाल—यह लो!

विश्वनाथ—लेकिन मैं कविराज तो नहीं हूँ?

दोनों—(चिल्ला कर) तो कवि ही बताया होगा, साहब।

नन्हेमल—हमें याद नहीं रहा। हमें तो जो पता दिया था उसी के सहारे आगए। नीचे आवाज लगाई और आप मिल गए, ऊपर चढ़ आए। पहले हमने सोचा होटल या धर्मशाला में ठहर जाएँ। फिर सोचा घर के ही तो हैं। चलो, घर ही चलें।

विश्वनाथ—जिनके यहाँ आपको जाना था, वह काम क्या करते हैं?

नन्हेमल—काम? क्या काम बताया था बाबू?

बाबूलाल—मेरे सामने तो कोई बात ही नहीं हुई। मैं तो सामान लेने चला गया था। आप तो, पंडित जी, शायद वैद्य हैं?

नन्हेमल—हाँ, याद आया। बताया था वैद्य हैं।

विश्वनाथ—पर मैं तो वैद्य नहीं हूँ।

प्रमोद—पिछली गली में एक कविराज वैद्य रहते हैं।

विश्वनाथ—हाँ, हाँ, ठीक, कहीं आप कविराज रामलाल वैद्य के

यहाँ तो नहीं आए हैं ?

दोनों—(उछल कर) अरे हाँ, वही तो कविराज रामलाल।

विश्वनाथ—शायद वह उधर के हैं भी।

नन्हेमल—ठीक है, साहब, ठीक है। वही हैं। मैं भी सोच रहा था कि आप न संपतराम को जानते हैं, न जगदीशप्रसाद को—(प्रमोद से) कहाँ है उन कविराज का घर ?

विश्वनाथ—जाओ, इन्हें उनका मकान बता दो। मैं भीतर हो आऊँ।

दोनों—चलो, जल्दी चलो, भैया अच्छा साहब, रामराम !

विश्वनाथ—(भीतर से ही) रामराम !

[सब चले जाते हैं। कुछ देर बाद विश्वनाथ का पत्नी सहित प्रवेश।]

रेवती—अब जान में जान आई। हाय, सिर फटा जा रहा है।

[नीचे से आवाज़ आती है]

[नेपथ्य में—'भले आदमी, न जाने कहाँ मकान लिया है—ढूढ़ते-ढूँढ़ते आधी रात होने आई है।]

रेवती—फिर, फिर अरे (प्रसन्न होकर) अरे भैया है ! आओ, आओ, तुमने तो खबर भी न दी।

आगंतुक—रेवती ! (दोनों मिलते हैं। विश्वनाथ से) पिछले चार घंटे से बराबर मकान खोज रहा हूँ। क्या मेरा तार नहीं मिला ?

विश्वनाथ—नहीं तो। कब तार दिया था ?

आगंतुक—कल ही तो झाँसी से दिया था। सोचता था कि ठीक समय पर मिल जायगा। ओह, बड़ी परेशानी हुई।

रेवती—लो, कपड़े उतार डालो। पंखा करती हूँ। अरे प्रमोद, जा जल्दी से बरफ तो ला। मामाजी को ठंडा पानी पिला। और देख, नुक्कड़ पर हलवाई की दुकान खुली हो तो···

आगंतुक—भाई, बहुत बड़ा शहर है। वह तो कहो, मैं भी ढूँढ़ कर ही रहा, नहीं तो न जाने कहाँ होटल या धर्मशाला में रहना पड़ता। बड़ी गरमी है। मैं ज़रा बाथरूम जाना चाहता हूँ।

विश्वनाथ—हाँ, हाँ अवश्य। सामने चले जाइए।

आगंतुक—एक बार तो जी में आया कि सामने होटल में ठहर जाऊँ। शायद रात को आप लोगों को कोई कष्ट हो।

रेवती—ऐसा क्यों सोचते हैं आप! कष्ट काहे का! यह तो हम लोगों का कर्त्तव्य था। अच्छा, तुम तैयार हो, मैं खाना बनाती हूँ।

आगंतुक—भई, देखो, इस समय खानावाना रहने दो। मैं पानी पीकर सो जाऊँगा। वैसे मुझे भूख भी नहीं है।

रेवती—(जाती हुई, लौटकर) कैसी बातें करते हो भैया! मैं अभी खाना बनाती हूँ।

आगंतुक—इतनी गरमी में! रहने दो न।

विश्वनाथ—तुम बाथरूम तो जाओ। (आगंतुक जाता है। रेवती से) कहो, अब?

रेवती—अब क्या—मैं खाना बनाऊँगी। भैया भूखे नहीं सो सकते।

विश्वनाथ—(हँसकर) हाँ, ऐसा न हुआ तो कदाचित् और···सिर का दर्द···

रेवती—यहाँ कर्त्तव्य के साथ प्रेम है।

विश्वनाथ—दिखावा भी।

रेवती—वह भी, किन्तु अपनत्व तो है ही। तुम मिठाई मँगवाओ, मैं पूरियाँ तले देती हूँ। (छत की तरफ) संतोष ! संतोष, उठ तो सही। देख, मामाजी आए हैं। जल्दी आ। (गाती है) आज मेरे घर आए भैया···

॥ समाप्त ॥

अन्धकार और...?

पात्र

महेन्द्र—सेना में कैप्टन।
हरीन्द्र—महेन्द्र का मित्र।
रमा — महेन्द्र की बहन।
उमापति—गोविन्द का पिता।
पत्नी —गोविन्द की माँ।
उमा —गोविन्द की पत्नी।
चन्ना —उमापति का नौकर।
तिक्खू—महेन्द्र का नौकर।

[कैप्टन महेन्द्र का कमरा। कमरे में दीवार पर भुसले भरा एक मगर, दो हिरनों के मुख, एक चीते की खाल फैली हुई मुख के साथ टँगी है। कुछ पुरानी युद्ध की तस्वीरें, पश्चिमाभिमुख कालीन पर बड़ी-बड़ी समुद्री कौड़ियाँ दोनों तरफ़ बीच में एक बड़ा शंख, ताजमहल की सेल-खड़ी की इमारत। उसके नीचे मेज पर अस्त-व्यस्त कुछ पुस्तकें, जिनमें अधिकतर शिकार की हैं, कोडक का एक केमरा, दावात, होल्डर, एक फाउण्टेन पेन, मेज़पोश मैलाखाकी रंग का, उसके पास कए कुर्सी, बीच में कालीन के किनारे किनारे दो सोफासेट, कालीन के ऊपर छोटी मेज़ पर गुलदस्ता। दक्षिण की दीवार पर दो बंदूकें उसके पास चमड़े के दो बड़े सूटकेस, उनमें एक अच्छा और दूसरा पुराना, कमरा काफ़ी लम्बा चौड़ा है। पश्चिम की दीवार की तरफ एक दरवाजा, जो भीतर मकान में जाता है। उत्तर की दीवार में एक बड़ी खिड़की, जिससे बंगले के बाहर बाग का कुछ भाग दिखाई देता हैं। बहुत दिनों के बाद कमरा खुलने से ज्ञात होता है कि अभी अभी उसकी सफ़ाई की गई है। फिर भी हर चीज़ बेतरतीब है। दीवार की खूँटियों पर फौजी वर्दियाँ टँगी हैं। मेज के पास कुर्सी पर चमड़े की पेटी में एक रिवाल्वर लटक रहा है। समय सायंकाल, लगभग छै बजे, फिर भी जाड़े के दिन होने के कारण कमरे में बिजली का प्रकाश है। गुमसुम मुद्रा में महेन्द्र टहल रहा है। मानों

एक एक कदम पर जोर देकर चल रहा हो। महेन्द्र की वयस लगभग सत्ताइस अट्ठाइस, ऊँचा कद, भरा हुआ शरीर, चौड़ी छाती, गौर वर्ण, दाढ़ी मूँछे साफ, उन्नत मस्तक, बड़ी बड़ी आँखें भूरापन लिये, खुले हुए बटन की हाफ़स्लीव की ख़ाकी कमीज़, ख़ाकी निकर, ख़ाकी स्टाकिंग। टहलते हुए कुछ बड़बड़ाता है। कभी ठहरकर कोई चित्र देखने लगता है, कभी शून्यदृष्टि से खिड़की से बाहर की ओर देखता हैं तो ;देखता ही रहता है। उसकी आकृति देखने से ज्ञात होता है जैसे वह अपने भीतर के संघर्ष को दबा रहा है। और कभी हँसकर, अट्टहास करके मुस्कराकर उसे पी जाना चाहता है। किन्तु थोड़ी ही देर में फिर उसके ऊपर नशे की तरह मानसिक द्वन्द्व छाजाता है। फिर उसी में वह डूब जाता है। डूबा रहता है। जैसे सामने, दायें, बायें कहीं भी कुछ न हो। एकाएक रिवाल्वर निकाल कर उसे देखता है, फिर उसका ट्राइ-गर दबाने की कोशिश करता है। रिवाल्वर खाली है। फिर कारतूस भरता है। फिर निकाल लेता है! रिवाल्वर लेकर घूमता है। फिर रख कर विचारों में डूब जाता है। एकदम सोफे पर धम्म से बैठ जाता है। जैसे उसके ऊपर किसी विचार ने भयानक आक्रमण कर दिया हो। दोनों हाथों से आँखें मीच लेता है। उसकी सारी चेष्टा कभी कभी एक विकृत मस्तिष्क के मनुष्य की सी हो उठती है। और थोड़ी देर में फिर स्वस्थ सा अनुभव करने लगता है। किन्तु कुछ थोड़ी देर को। फिर उसी कल्पना के संघर्ष में डूब जाता है।]

महेन्द्र—[एकाएक ठहाका मारकर जोर से हँसता ही रहता है उसके हँसने से सारा कमरा गूँज उठता है। इसी समय पश्चिम की तरफ़ से नौकर आता है। और चुपचाप साहब की गतिविधि देखकर

लौट जाता है।] खूब, मैं भी खूब हूँ। भला इसमें चिन्ता की क्या बात है। पागल, मैं भी पागल हूँ। जो होगया सो हो गया। और वह भी क्या...वह ठीक ही तो हुआ है। मैं भी खूब हूँ। (अपने को सतर्क, सावधान करने की चेष्टा में सिर हिलाकर आँखें खोलकर, शरीर हिलाकर देखता है। जैसे उसके विचारों का भूत बिलकुल व्यर्थ, काल्पनिक हो। इसी समय वैसी ही सुन्दर गठन का एक युवक प्रवेश करता है। युवक का लम्बा-चौड़ा क़द, सफेद पतलून, सफेद कमीज़ पहने, हाथ में रुमाल, लापरवाही से चलता हुआ आता है, युवक की आँखों में शरारत का भाव है। पास ही काउच पर बैठ जाता है।)

हरीन्द्र—क्या होरहा है महेन्द्र ? अरे, तुम कैसे देख रहे हो, क्या पीली है ? ओः, मैं भूलता हूँ तुम पीते तो हो नहीं। जाने दो। हाँ, क्या तुम शिकार से लौट आये ? कहो कैसा रहा ?

महेन्द्र—हाँ, लौट आया ? (धीमी आवाज़ में रुकरुकर) लौट आया। ओः (आँखें बन्द करके हृदय के भावों को दबाता हुआ) लौट आया हरीन्द्र।

हरीन्द्र—क्यों क्या हुआ है तुमको ?

महेन्द्र—(चेतन होकर) क्या, क्या हुआ है मुझको ? मैं तो ठीक हूँ। बिल्कुल ठीक हूँ। तुम, तुम कहो। तुम न चले। बहुत मज़ा आया।

हरीन्द्र—क्या कहूँ, मैं तो चल ही न सका। गोविन्द कहाँ है ?

महेन्द्र—गोविन्द, (चौंककर) गोविन्द (हँसकर) गोविन्द गया।

हरीन्द्र—(ताड़ने के भाव से भोला बन कर) कहाँ, कहाँ गया ! क्या

घर गया है ? यह अच्छा ही हुआ जो घर चला गया। ऐसे आदमी का घर में रहना...खतरनाक है।

महेन्द्र—खतरनाक, खतरनाक क्यों (हरीन्द्र की आँखों में आँखें गड़ाकर) खतरनाक क्यों !

हरीन्द्र—(उठकर टहलने लगता है) खतरनाक तो है ही। मैंने तुमसे पहले ही कहा था कि उसकी आँखें उमा की तरफ ठीक नहीं हैं।

महेन्द्र—हूँ, (जैसे भीतर ही भीतर उठते हुए तूफान को दबा रहा हो।)

हरीन्द्र—इस घर में, अकेले घर में उसका इस तरह रहना...

महेन्द्र—मैं देख चुका हूँ। (ज़ोर से) मैंने अपनी आँखों से देखा है। मैंने इसीलिये...।

हरीन्द्र—(लौटकर) इसीलिये क्या, उसे घर से निकाल दिया है ?

महेन्द्र—(चुप)

हरीन्द्र—जवान लड़की के साथ ऐसे आदमी का घर में रहना, हँस हँस कर बात करना, घण्टों एकान्त में बैठे रह कर पढ़ाने का बहाना बनाना; यह सब...।

महेन्द्र—(उठकर) पिछले एक सप्ताह में छुट्टी से लौटकर मैंने जो देखा उसे...ह ह ह (हँसता ही रहता है) यह भी खूब रहा।

हरीन्द्र—(भौंचक्का और संदेहग्रस्त होकर) क्या खूब रहा ?

महेन्द्र—मैंने, मैंने उसे मार दिया।

हरीन्द्र—मार दिया ! कहाँ मार दिया ? कैसे मार दिया ?

महेन्द्र—शिकार में और कहाँ ! (गुमसुम हो जाता है)

हरीन्द्र—शिकार में, क्या वह तुम्हारे साथ शिकार खेलने गया था ?

महेन्द्र—हाँ, वह तो नहीं जा रहा था। मैं ही उसको ज़बरदस्ती ले गया, और मार दिया।

हरीन्द्र—(भीतर की प्रसन्नता दबाकर अफसोस करता हुआ) मार दिया तो वह घर नहीं गया ?

महेन्द्र—नहीं, असली घर गया। जहाँ से कभी कोई नहीं लौटता। और...। (हँसता ही रहता है)

हरीन्द्र—और, और क्या ?

महेन्द्र—उसे शेर खा भी गया। ओः न जाने मुझे...। गोविन्द ··। मैंने आते हुए पुलिस में उसके मरने की खबर भी दे दी।

हरीन्द्र—पुलिस में उसके इस तरह मारे जाने की खबर भी दे दी ?

महेन्द्र—अब मुझे संतोष है हरीन्द्र, मैं यह नहीं देख सकता कि कोई मेरी बहन को इस तरह देखे, उसके साथ हँसे। उसे...(ज़ोर से) कोई बुरी निगाह से देखे। मैंने ऐसे पचासों आदमियों को हँसते हँसते मार दिया है लड़ाई के मैदान में। गोविन्द (थूकता है) तुम्हारा कहना बिलकुल सच था।

हरीन्द्र—(जो उसके जोर के बोलने से सहम सा गया है स्वस्थ होकर) तुमने बहुत ही अच्छा किया कैप्टन ! मैं तो जैसे

यह सब देखकर भीतर ही भीतर घुटता रहा हूँ। मैंने इन आँखों से जो देखा है वह तुमसे...

महेन्द्र—मैं रमा को भी मार दूँगा। जाने से पूर्व उसका काम भी समाप्त कर दूँगा। मुझे बताओ—अब तक मैं समझता था गोविन्द की ज्यादती थी। रमा भी अब...।

हरीन्द्र—(डरकर) नहीं, नहीं, रमा का कोई अपराध नहीं है महेन्द्र, वह तो सीधी-सादी भोली लड़की है।

महेन्द्र—(घुड़ककर) लेकिन तुम तो कहते थे तुमने इन आँखों से देखा है।

हरीन्द्र—केवल गोविन्द को रमा से हँसते ही केप्टन, और कुछ नहीं।

महेन्द्र—महेन्द्र अपने घर को लाञ्छित नहीं देख सकता। मैं मिलिटरी में हूँ हरीन्द्र, मनुष्य को मार देना मेरे बायें हाथ का खेल है। मैंने अब तक मारना ही तो सीखा है। रिवाल्वर निकालकर कारतूस भरता है। और निशाना हरीन्द्र की ओर करता है)

हरीन्द्र—यह क्या कर रहे हो महेन्द्र, यह क्या कह रहे हो; क्या मेरे ही ऊपर ?

महेन्द्र—अरे डर गये। हहह हहह। डर गये। ठहरो मैं तुम्हें नहीं मारूँगा तुम भी तो मेरी बहन से प्रेम करना चाहते हो न ?

हरीन्द्र—नहीं, नहीं मैं क्यों, नहीं, नहीं महेन्द्र, रिवाल्वर हटालो

ईश्वर के नाम पर इसे पेटी में रख लो। रखलो।

महेन्द्र—डरो नहीं, मैं हत्यारा नहीं हूँ। हैं हत्यारा...मैंने गोविन्द को मारा है। मैं हत्यारा हूँ। मैंने गोविन्द को मारा है। नहीं, मैंने गोविन्द को नहीं मारा उसे शेर खा गया।

हरीन्द्र—अच्छा मैं चलूँ कैप्टन। मैं जाता हूँ।

महेन्द्र—(कड़ककर) सुनो।

हरीन्द्र—कहिये।

महेन्द्र—तुम मेरी एक बात मानोगे !

हरीन्द्र—क्या !

महेन्द्र—मैं फौज में लौटने से पहले रमा की शादी कर देना चाहता हूँ।

हरीन्द्र—अच्छी बात है। यह तो होना ही चाहिये।

महेन्द्र—तुम तैयार हो।

हरीन्द्र—प्रस्ताव बुरा नहीं है सोचूँगा।

महेन्द्र—सोचूँगा, क्या सोचूँगा। तुम्हें इसी समय उत्तर देना होगा। बोलो (रिवाल्वर निकालता है)।

हरीन्द्र—अरे, तो तुम रिवाल्वर क्यों निकालते हो, क्या मुझे मारोगे। मालूम होता है तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है। ज़रा आराम करो फिर फ़ुर्सत से बातचीत होगी। इस समय मुझे आज्ञा दो।

महेन्द्र—तो क्या तुम विश्वास करते हो कि मैंने गोविन्द को मारा है ! नहीं, मैंने उसे नहीं मारा। उसे तो शेर खा गया। भला आदमी मचान से गिर पड़ा और बस···

हरीन्द्र—यह तो है ही। सुनो महेन्द्र, मैं तुम्हारी जगह होता तो मैं भी यही करता जो तुमने किया है। मैं इसे बिलकुल बुरा नहीं समझता।

महेन्द्र—तुमने ठीक कहा दोस्त ! तुमने ठीक कहा—मैं तुम्हारी जगह होता तो मैं भी यही करता। तो तुम विश्वास करते हो कि मैंने उसे मारा; मैं हत्यारा हूँ। (जोर से) मैं हत्यारा हूँ। बोलो, बोलते क्यों नहीं।

हरीन्द्र—तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है। मैं फिर आऊँगा। (चला जाता है)।

महेन्द्र—ठहरो, ठहरो (हरीन्द्र लौटता है और महेन्द्र हँसता है) अच्छा जाओ। जाओ। (हरीन्द्र जाते हुए 'हत्या' शब्द कहता है) मैं हत्यारा हूँ। मैंने गोविन्द को मारा है (धीरे-धीरे स्वर ऊँचा होता जाता है) मैंने गोविन्द को मारा है। नहीं, मैंने नहीं मारा···नहीं मैंने नहीं मारा—हा हा हा हा हा हा (हँसता है) कैसी विचित्र बात है। अरे तुम गोविन्द, कोने में क्यों खड़े हो, इधर आओ। (खड़ा होकर धीरे-धीरे) तुम, तुम, गोविन्द, (पेटी से रिवाल्वर निकाल कर) कुत्ते, मौत के शिकंजे से बच कर तू निकल आया। अब नहीं बचेगा—नहीं, अब नहीं बचेगा। (ट्राइगर दबाता है गोली छूट जाती है और कपड़ों में जाकर लगती है। नौकर रमा और महेन्द्र की माँ दौड़कर आती हैं)।

माँ—क्या हुआ, क्या हुआ बेटा ?

रमा—क्या हुआ, क्या हुआ भैया ?

नौकर—कैसी गोली चली ? क्या हुआ साहब को माँ जी !

(महेन्द्र चुपचाप काउच पर बैठ जाता है। आँख फाड़े देखता रहता है)

महेन्द्र—कुछ नहीं। कुछ भी तो नहीं। अरे तुम डर गईं। मैं प्रेक्टिस कर रहा था। मैं मिलिटरी में हूँ न, रोज इसी तरह गोली चलानी पड़ती है। जाओ, जाओ, (जोर से) जाओ अन्दर।

माँ—बेटा, कैसी तबियत है ?

मन्हेद्र—(चैतन्य होकर) ठीक हूँ माँ तुम जाओ।

माँ—नहीं तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है। शिकार से लौटते ही तुम्हें न जाने क्या हो गया है। तिक्खू देख, डाक्टर उमानाथ को तो बुला ला।

तिक्खू—बहुत अच्छा।

महेन्द्र—नहीं, डाक्टर की कोई जरूरत नहीं है। मैं ठीक हूँ माँ, मैं ठीक हूँ वह तो वैसे ही गोली चल गई। तुम जाओ। रमा, तुम ठहरोगी।

(नौकर और माँ चले जाते हैं)

रमा—(सकपकाई हुई) क्या है भैया।

महेन्द्र—(उसकी तरफ देखता रहकर) गोविन्द तुम्हारे साथ मजाक करता था न, कुदृष्टि से तुम्हें देखता था न ?

रमा—नहीं तो, तुम से किसने कहा !

महेन्द्र—मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है कि वह तुम्हारे साथ हँसता था।

रमा—तो हँसना क्या बुरी बात है। वे तो बहुत अच्छे आदमी हैं। मैंने उनमें कोई ऐसी बात नहीं देखी।

महेन्द्र—(क्रोध से) हँसना कोई बुरी बात नहीं है दुष्टे, मैं तुझे मार डालूँगा।

रमा—(वैसे ही निर्भीक रहकर) उनकी दृष्टि शुद्ध है। वे दार्शनिक हैं, भोले हैं, उन्हें कभी-कभी अपनेपन का, अपनी चीजों का भी ध्यान नहीं रहता इसीलिये मैं उन पर हँसा करती हूँ भैया!

महेन्द्र—वे दार्शनिक हैं।

रमा—हाँ, उसी दिन वे एक घण्टे तक अपनी कमीज ढूढ़ते रहे हालाँ कि वह इसी कमरे में सामने की खूँटी पर टँगी थी। वह आज भी वैसी ही टँगी है। अरे, उसी में आपने गोली मार दी। यह क्या किया आपने?

महेन्द्र—तू क्या कह रही है। तुम स्त्रियों का विश्वास नहीं करना चाहिये। तुम लोग झूठी हो।

रमा—आपको ऐसा कहने का साहस कैसे हुआ? क्या मैं झूठ बोलती हूँ। मैं झूठ क्यों बोलूँगी। वे मेरी सखी उमा के पति हैं। मैं उन्हें तब से जानती हूँ जब वे मेरे साथ कालेज में दो क्लास ऊपर पढ़ते थे। उन दिनों भी एक-बार वे नंगे पैरों कालेज चले आये। जब लड़कों ने उनसे कहा तो बोले—मैं समझ रहा था कि मैं जूते पहने हूँ।

इस पर सारे कालेज में वे दार्शनिक के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

महेन्द्र—और तू उसके सम्बन्ध में क्या जानती है। वह बनावटी धूर्त था। सुन, मेरे रहते यह नहीं हो सकता कि कोई मेरे घर में मेरी बहन को कुदृष्टि से देखे, मैंने......।

रमा—आपको भ्रम हुआ है भैया। जीवन में इतना सरल, साधु-स्वभाव का आदमी मैंने नहीं देखा। तभी मैंने आपकी अनुपस्थिति में उनसे ठहरने को कहा। वे केवल कुछ दिन ही तो ठहरे। और अलग रहने के लिए छटपटा रहे थे। शायद वे कल से नया मकान लेकर रहने चले भी गये हैं। इसके अतिरिक्त उमा ने लिखा था—'तुम इनका ध्यान रखना इन्हें भाई की तरह मानना। अकेले रहकर कहीं ऐसा न हो कि ये बीमार पड़ जाय।' यह उसका पत्र अभी तक मेरे पास है।

(पत्र सामने रख देती है। महेन्द्र पढ़ता है।)

जीजी,

......ये प्रोफेसर अपाइण्ट होकर नौकरी करने के लिए तुम्हारे शहर में आरहे हैं। तुम तो जानती हो घर में किसी बात की कमी नहीं है। फिर भी इन्हें धुन है कालेज में नौकरी करने की। भला ऐसे विद्वान् को, जो तीन विषयों का फर्स्ट क्लास एम० ए० हो, कौन नहीं रखना चाहेगा। प्रिन्सिपल ने स्वयं इन्हें वहाँ आने को लिखा है। शायद ठहरने को भी उन्हें अपने यहाँ ही कहा है किन्तु मैं

जानती हूँ ये कितने भोले हैं, न कपड़ों का ध्यान है न खाने का, इसी लिये मैं आग्रह करके इन्हें तुम्हारे पास एकाध सप्ताह ठहरने के लिए भेज रही हूँ। मकान मिल जाने पर मैं स्वयं आजाऊँगी। फिर हम लोग मिलेंगी ही। जरा अपने इन भोले बाबा शुकदेव का ध्यान रखना।

तुम्हारी बहन,
उमा

१५ अगस्त, १६४६,
आगरा

महेन्द्र—(आवेश दबाकर) यह, यह⋯⋯यह उमा कौन है ?

रमा—मेरी बी० ए० की क्लासफैलो। हम और यह इण्टर से एक साथ पढ़ रही हैं। बड़ी सीधी और भोली लड़की है, किन्तु गोविन्द बाबू से चतुर। उन्हीं के साथ पिछले जाड़ों में इसका विवाह हुआ है। मैं भी विवाह में गई थी। तुम्हें मैंने पत्र में लिखा तो था। अरे तुम्हें क्या हो गया भैया ? तुम्हारा रंग उड़ता जारहा है, तुम रो रहे हो⋯।

महेन्द्र—कुछ नहीं रमा, कुछ नहीं, (एक दम उठकर रिवाल्वर उठा लेता है)

रमा—यह क्या कर रहे हैं आप, यह रिवाल्वर क्यों उठा रहे हैं भैया !

महेन्द्र—मुझे बड़ा भ्रम हुआ, हरीन्द्र ने मुझे धोखा दिया। मैंने बड़ा⋯⋯

रमा—(चकित होकर देखती रहती है) बहुत दिनों से मेरी फ्रेंच

पढ़ने की इच्छा थी। मैंने उनसे फ्रेंच पढ़ना प्रारम्भ कर दिया है। अभी वह आने को कह गये थे। पर अभी तक आये नहीं।

महेन्द्र—हरीन्द्र, दुष्ट हरीन्द्र, (क्रोध से उठकर टहलने लगता है) कुत्ते ,पापी;

रमा—क्या हुआ, हरीन्द्र ने क्या किया ? वह नीच न जाने क्यों मेरे पीछे पड़ा हुआ है ? माँ से कई वार मेरी शादी का प्रस्ताव कर चुका है।

महेन्द्र—(निर्जीव-सा काउच पर गिर पड़ता है) बहन, मैं हत्यारा हूँ, मैं हत्यारा हूँ।

रमा—आप क्या कह रहे हैं ? क्या हरीन्द्र···?

महेन्द्र—हाँ मैंने गोविन्द की हत्या कर दी है। मैं हत्यारा हूँ।

रमा—(जैसे शरीर में हज़ार-हज़ार बिजलियाँ छू गई हों, चीख निकलती है) हत्या कर दी ? गोविन्द की हत्या कर दी ? कैसे-कैसे भैया। यह आपने क्या किया ? (वहीं बैठ जाती है) हाय, उमा······

महेन्द्र—हाँ रमा, वह तुम्हारे सामने हँसा था इसी से उसकी मैंने हत्या कर दी। मैं उसे शेर के शिकार के लिये ले गया। वह कहाँ जारहा था। उसने कभी शेर क्या, गीदड़ का भी शिकार नहीं किया था।

रमा—(कुछ देर बाद) मैं उमा को ·······

महेन्द्र—वहाँ जंगल में शेर के माँद से निकलने पर मैंने उसे मचान से नीचे धकेल दिया।

रमा—(चुप होकर देखती रहती है जैसे उसकी इन्द्रियाँ जड़ हो गई हैं)

महेन्द्र—तुम देख रही हो। मेरी ओर आँखें फाड़ कर देख रही हो। हा हा हा हा, लोगों ने समझा उसका पैर फिसल गया। और वह गिर पड़ा। वह तो मचान पर भी नहीं चढ़ना चाहता था। मैंने ही डाटकर उसे मचान पर चढ़ाया। फिर भी वह निर्भय दिखाई दे रहा था। उसके चेहरे पर शान्ति थी। फिर भी उसकी अवस्था उस बकरी के समान थी जो शेर के आने पर उसकी बलि के लिये बाँध दी जाती है। गोविन्द ······· विचारा गोविन्द, फ़िलासफी का प्रोफेसर गोविन्द ··· हा हा हा हा (गंभीरता से) कितना अपलाप है जीवन का। कितना क्षणभंगुर है जीवन! हा हा हा हा (हँसता है हँसता ही रहता है फिर एक दम गुम-सुम हो जाता है) गोविन्द, तुम नहीं, तुम मरे नहीं हो, तुम एक छाया की तरह मेरे शरीर में व्याप्त हो गये हो। रमा रमा ···

रमा—(मूक होकर भाई की तरफ़ देखती है)

महेन्द्र—नहीं, मैंने नहीं मारा, मैंने नहीं फैंका गोविन्द को। झूठ है, सब झूठ है। झूठ है रमा ···· गोविन्द यहाँ है। वह खड़ा है वह हँस रहा है। वह कोने में है। नहीं नहीं मुझे छोड़ दो। हट जाओ। हट जाओ, हट जाओ। मैंने गोविन्द को नहीं मारा है। नहीं ······ (फर्श पर अचेत होकर गिर पड़ता है।)

रमा—(ज़ोर से चिल्लाती है) भैया ? हाय, कितना बड़ा भ्रम हुआ।

एक पश्चात्ताप से जल रहा है (आँखें फाड़ कर देखती हुई) और ····· एक ने बिना कारण मृत्यु का आलिंगन किया। निरपराध ······ निर्दोष गोविन्द, कितना बड़ा भ्रम है जीवन में। क्या, क्या ···· यह सब ····· मेरे कारण ······ नहीं हुआ ? मैं ··· मैं ही ···· अपराधिनी हूँ। इन दोनों के ···· निश्छल ····· पवित्र ··· हँसने में विष भरा हुआ था यह मैंने आज ही जाना। उन्होंने महामृत्यु का आह्वान किया। अब उमा क्या कहेगी—'इसीलिए मैं आग्रह करके इन्हें तुम्हारे पास एकाध सप्ताह ठहरने के लिये भेज रही हूँ।' (पत्र उठाकर पढ़ने लगती है पढ़ती रहती है, फिर एक दम दूर फेंककर, फूट-फूट कर रोने लगती है। इसी समय महेन्द्र चैतन्य हो जाता है।)

महेन्द्र—(रमा की ओर देखकर) तू रो रही है। रो खूब रो, जीभर कर रो। (इसी समय मेज के पास रिवाल्वर लेने जाता है) मैं तुझे भी मार दूँगा। तुझे भी। दुष्टे, चाण्डालिनी पापिन, जहाँ गोविन्द गया, वहीं तुझे भी जाना होगा। (देखता है मेज पर अधलिखा पत्र रखा है यह उसे पढ़ने लगता है, देर तक पढ़ता रहता है।) यह गोविन्द का पत्र है।

रमा—मार दो, मुझे भी मार दो। मैं पापिन हूँ। मारो। मैं तैयार हूँ।

महेन्द्र—नहीं, नहीं, तू निरपराध है। यह पत्र कह रहा है,

चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा है तू निरपराध है, गोविन्द निरपराध है। मैं ही पापी हूँ। मेरा ही भ्रम था। भ्रम था। मेरी आँखों ने धोखा दिया। मैं हत्यारा हूँ रमा, मैं ही हत्यारा हूँ। (एक दम निकल जाता है)

दूसरा दृश्य

(गोविन्द के पिता उमापति, बड़ी अवस्था के वृद्ध एक पलंग पर तकिये के सहारे बैठे हैं। शरीर झुर्रियों से भरा हुआ, निर्बल। सामने एक समाचार पत्र पड़ा है। कुछ आलमारियाँ शीशे की, जिनमें किताबें भरी हैं। एक मेज़ जिसके पास एक कुर्सी। कुर्सी के पास ही किनारे की तरफ आराम कुर्सी बिछी है। यह गोविन्द के पढ़ने का कमरा है। उसके जाने के बाद कमरे में और कोई सजावट नहीं है। केवल गोविन्द के भिन्न अवस्था के कुछ चित्र दीवार में टँगे हैं। उसके साथ ही एक चित्र उमापति और गोविन्द का है। वृद्ध कभी कभी घण्टों गोविन्द के चित्रों को देखते रहते हैं। मेज पर कुछ समाचार पत्र तथा मासिक पत्र हैं। उनमें अधिकतर अंग्रेजी तथा कल्याण के विशेषांक हैं। पलंग के पास एक कोयलों से भरी एक अँगीठी रखी है। उमापति कभी कभी कंबल में से हाथ निकाल कर हाथ ताप लेते हैं। बूढ़ा नौकर उनके पैर गरम कर रहा है। संध्या की तरह निष्प्रभ चेहरा। समय प्रातःकाल लगभग नौ दस बजे।)

नौकर—(पैर दबाता हुआ) मालिक, बबुआ भैया की कोई चिट्ठी नहीं आई।

उमापति—(चौंक कर) न मालूम इन लड़कों को क्या सूझती है। भला घर में किस बात की कमी है जो नौकरी करने गये।

नौकर—सो तो है ही मालिक, सो तो है ही। इतनी बड़ी जमींदारी, इतना बड़ा मकान। सभी कुछ तो है। फिर भी न जाने क्यों चले गये। गौ, हैं गौ बबुआ भैया।

उमापति—(पैर बदल कर) बड़ी सर्दी है पैर ढक दे चन्ना। और देख, भीतर जाकर बहू से पूछ गोविन्द की कोई चिट्ठी नहीं आई क्या? जब से गया है कोई चिट्ठी नहीं भेजी।

(चन्ना जाता है)

इस लड़के को कौन समझा वे कि बूढ़े बाप के हृदय में तेरे लिये कितना स्नेह का सागर उमड़ता रहता है। बुढ़िया माँ मानों सूरत देख कर जी उठती है। क्यों न हो इकलौता लड़का, आज्ञाकारी, सुशील। (बच्चेपन की तस्वीरें को देखता हुआ) बचुआ, तुम बड़े नटखट हो। भला तुम्हारे लिये घर में क्या नहीं है, किस बात की कमी है। फिर भी तुम नौकरी करने गये। (हँस कर) बड़े नटखट हो तुम। (चन्ना आता है।)

चन्ना—मालिक, बहू कहती हैं अभी उस दिन जो चिट्ठी आई थी वह आप देख ही चुके हैं।

उमापति—क्या कहा, अभी उस दिन जो चिट्ठी आई थी उसे

मैं देख चुका हूँ ?

चन्ना—हाँ, मालिक।

उमापति—तो तूने बताया क्यों नहीं रे।

चन्ना—मालिक आपको तो रोज उनकी एक चिट्ठी चाहिये। तभी पेट भरे।

(उमापति की पत्नी का प्रवेश)

पत्नी—सुनते हो।

उमापति—हाँ कहो क्या है ?

पत्नी—देखो, बहू को कड़े हीरे के चाहिये। मैंने तुम से कितनी बार कहा है मेरी बहू सोने के कड़े नहीं पहनेगी। सोने के तो सभी पहनते हैं मैं इकलौते लड़के की माँ हूँ। कोई नंगी भूखी तो हूँ नहीं जो मेरी बहू साधारण ढंग से रहे।

उमापति—तो तुम से कौन मना करता है। हीरे के कड़े बनवा दो। नई बहू है तो नये ही गहने तो चाहिये क्यों चन्ना ?

चन्ना—हाँ मालिक—बहू रानी हैं तो हीरे के ही तो पहनेंगी। बहू क्या है साक्षात् लच्छमी का औतार है। जैसे बबुआ राजा वैसे ही बहू। बनवा दो माँ जी। कहो तो सुनार को बुला लाऊँ।

पत्नी—हाँ अभी बुलाला, जा।

(दरवाजा खटखटाने की आवाज़)

देख तो कौन है रे !

(चन्ना जाकर दरवाजा खोलता है महेन्द्र का अस्तव्यस्त वेश में

प्रवेश। वैसी ही खाकी वेश भूषा में महेन्द्र आता है। उमापति खाकी वर्दी के आदमी को देखकर डर जाते हैं। एकदम उठकर खड़े हो जाते हैं महेन्द्र के पास आने पर पत्नी भीतर चली जाती है।)

उमापति—(भौंचका सा होकर देखता रहता है) क. क. हिये ? क् क् क्या चाहते हैं आ ऽ ऽ प !

महेन्द्र—मैं देहरादून से आया हूँ। गोविन्द का यह पत्र है !

उमापति—(उछलकर) देहरादून से, गोविन्द का पत्र लेकर आये हैं आप बैठिये। कहिये गोविन्द प्रसन्न तो है न ! अरे मैं भी कैसा हूँ जब पत्र भेजा है तो प्रसन्न तो होगा ही। लाइये देखूँ पत्र। अरे सुनती हो, देखो गोविन्द का पत्र लेकर यह सज्जन देहरादून से आये हैं। आओ जल्दी। आओ आओ न !

पत्नी—(नेपथ्य से) आ तो रही हूँ। इतनी जल्दी काहे की है। आ रही हूँ। (सामने आकर) लो आ गई। तुम आये हो देहरादून से। खुशी रहो बेटा, यह देहरादून से आये हैं। तो इन्हें बैठाओ। बैठ जाओ बेटा, यहाँ आराम कुर्सी पर बैठो। यह तो नहीं कि बैठाते, लगे चिल्लाने जैसे कोई मुसीबत आ गई हो। अरे चन्ना, तू भी खड़ा देख रहा है। इन्हें देख। पानी आनी पूछ। हाय हाय, देखो तो कैसा चेहरा उतरा हुआ है। क्या करे बिचारा भीड़ क्या रेल में थोड़ी होती है आजकल ? तुम रात को तो क्या सोये होगे ? अब खाओ, पीयो, आराम करो।

उमापति—हाँ पत्र तो दो देखूँ क्या लिखा है।

पत्नी—हाँ देखो तो क्या लिखा है। मैंने तो रात को गोविन्द को सपने में देखा था। (उमापति पत्र लेकर पढ़ने लगता है) ज़रा ज़ोर से पढ़ो न! मैं भी तो सुनूँ।

उमापति—लो सुनो, लिखता है—

वन्दनीय बाबू जी,

सादर प्रणाम के पश्चात् निवेदन है कि मैंने कालेज में अध्यापन कार्य प्रारम्भ कर दिया है। प्रिन्सिपल मुझ पर बहुत प्रसन्न हैं। वैसे भी वे मेरे गुरु हैं। इसके अतिरिक्त बहन रमा के स्थान पर, जहाँ मैं ठहरा हुआ हूँ, मुझे पूर्ण सुख है। वह मेरा बहुत ध्यान रखती हैं, क्यों न हो, आखिर वे उमा की पुरानी सखी हैं न?

पत्नी—(बीच में ही टोककर) वहू का नाम लेते इसे शर्म नहीं आती। लो सुनो, हाय हाय, कैसा समय है। तुम भी तो कुछ नहीं कहते।

चन्ना—हाँ मालिक, राजा बाबू तो बहुत लिखे पढ़े हैं न?

उमापति—और क्या, और वह कौन थोड़ा पढ़ा है। मेरे पुरखों का वंश तार दिया लड़के ने। हाँ, आगे सुनो,

'इधर पिछले सप्ताह रमा के भाई केप्टन महेन्द्र छुट्टी पर आये हैं। बहुत सज्जन, बहादुर और विवेकी आदमी दिखाई पड़े। मुझे तो उन्हें देखकर ऐसा लगा कि मानों कोई मेरा ही भाई हो।

मैं यत्न कर रहा हूँ रमा को अधिक कष्ट न दूँ इसलिये दो चार दिन में मैं एक मकान ले लेने की चिन्ता में हूँ।

उसी समय उमा को बुला लूँगा। आप उससे कह दीजियेगा। यहाँ का मौसम बड़ा सुहावना है। माँ को प्रणाम।

आज्ञानुवर्ती—
गोविन्द

पुनश्च—

हमारे भाई महेन्द्र मुझ से शिकार पर चलने का आग्रह कर चुके हैं। यद्यपि मुझे शिकार का कोई शौक नहीं फिर भी उनके आग्रह से जाना ही होगा। यह जीवन भी ......(पत्र खाट पर रखकर उठता हुआ) अधूरा पत्र है। शायद, शायद तो क्या भैया, तुम्हीं महेन्द्र हो। वाह, कितनी प्रसन्नता की बात है। मेरे भाग खुले।

पत्नी—आदमी की भलमंसाहत उसके चेहरे से झलकती है। चन्ना जा, कुछ चाय पानी का इन्तजाम कर दे! असबाब कहाँ है तुम्हारा?

उमापति—अरे तुम भी वही रहीं, भला महेन्द्र यहाँ आवेंगे और और असबाव लेकर आवेंगे? वाह भैया, तुम खूब आये। मानों मेरा गोविन्द ही आगया हो।

पत्नी—खाना बनाऊँ।

उमापति—यह भी कोई पूछने की बात है? अच्छा खाना बनाना भला! कैप्टन महेन्द्र कोई छोटे-मोटे आदमी नहीं हैं।

महेन्द्र—सुनिये, मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि कि—(दोनों चौकन्ने होकर सुनते हैं, तत्पश्चात्)

उमापति—अरे तो बात करने के लिये और समय थोड़ा है।

तुम उठो न्हाओ धोओ, खाना खाओ, आराम करो। लो इस खाट पर बैठो। चन्ना इनका ख्याल रखियो। मैं जरा बाजार जाऊँगा।

पत्नी—हाँ और क्या? मैं भी चूल्हा चौका देखूँ। (दोनों जाने लगते हैं।)

महेन्द्र—किन्तु मैं तो आपको और ही कुछ बात कहने आया हूँ। मैं...मैंने........।

उमापति—तुम्हारी तबियत कुछ खराब है क्या? डाक्टर को बुलाऊँ। चन्ना देख, डाक्टर को तो बुलाला। जा दौड़ जा। तब तक तुम यहाँ खाट पर लेटो। अजी सुनती हो। महेन्द्र की कुछ तबियत खराब मालूम होती है। मैंने डाक्टर को बुलाया है।

पत्नी—(दौड़ती हुई) तबियत, तबियत हो इनके दुश्मनों की खराब, मैं यह नहीं मानती। हाँ नहीं तो, तुम्हारी तो आदत है। लोगों को वैसे ही बीमार बनाते रहते हो। तुम गोविन्द को भी आये दिन डाक्टर को दिखाने को कहा करते थे। नहीं भैया, क्या नाम है तुम्हारा......खैर। नाम तो मैं फिर भी जान लूँगी। मैं अभी जाती हूँ चाय वाय का प्रबन्ध करने। भला, तुम क्या कोई गैर हो। जैसा मेरा गोविन्द वैसे ही तुम। सचमुच बड़े भाग हैं हम गरीबों के, जिनके घर तुम आये।

महेन्द्र—माँ, मैं बड़ा पापी हूँ।

उमापति—हैं हैं ऐसा क्यों कहते हो। तुम तो बड़े अच्छे हो।

चन्ना, तू दौड़ कर बढ़िया सी ताजी मिठाई ले आ। चाय के साथ के लिये। देख ताजी हो। और देख छग्गन हलवाई से मेरा नाम लेना—कहना बाबू जी ने बहुत बढ़िया ताजी खोये की मिठाई मँगाई हैं। उनके यहाँ एक मिलिटरी के बड़े अफसर गोविन्द के दोस्त आये हैं।

चन्ना—बहुत अच्छा मालिक।

पत्नी—अरे चन्ना, देख जा तो रहा ही है सुरजिया कहारिन को भी बुलाता लय्यो। कहियो आज मेहमान आये हैं दिनभर काम करना होगा। जा, मैं जाऊँ चौका चूल्हा देखूँ। क्या बताऊँ मना करने पर भी बहू काम करने से बाज नहीं आती, मुझे पत्ता नहीं तोड़ने देती।

उमापति—क्यों क्या बात है उसकी तबियत तो ठीक है न?

पत्नी—कल से सिर में दर्द है। मैंने देखा उदास बैठी थी। पूछा क्या बात है री, मेरी बिटिया का चन्दा सा मुँह उतर क्यों रहा है? पर कोई जवाब नहीं दिया। बहुत पूछने पर बताया सिर में दर्द है। रात को दो घण्टे तक सुखिया सिर मसलती रही है। तब जाकर दर्द कुछ कम हुआ। सवेरे से जिद कर रही थी माँजी, मैं काम करूँगी आप आराम करें। भला, मैं बैठ सकती थी। बेटी के सिर के में दर्द हो और मैं आराम करूँ? सच मानो तीन बार रात को उठी और उढ़ाया। फिर भी जब जी न माना तब धीरे धीरे सिर दबाने लगी। बहू एक दम जाग गई और मेरे पैर पकड़

कर कहने लगी—माँ जी, तुम जाकर सोओ। मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ। मैं क्या करती आकर खाट पर लेट रही। पर तुम जानों नींद थोड़े ही आई, रात भर गोविन्द का ध्यान आता रहा। न जाने मेरा बेटा कैसा होगा? पर अब इन्हें देखकर और उसका पत्र सुन कर जान में जान आई।

उमापति—भैया महेन्द्र, मैं तुम्हारी माँ के मारे बड़ा परेशान हूँ। बहू का मजाल है सिर भी दुख जाय। सारा घर उठा लेंगी। पिछले दिनों मैं बीमार पड़ गया, बीमार क्या, ऐसे ही मामूली बुखार आ गया तो रातों नहीं सोईं, न खाना, न पीना, बस, सिरहाने बैठकर मेरे मुँह की तरफ देखते रहना। जब देखो तब आँखों से गंगाजल गिर रहा है। मैं समझा समझाकर हार गया। मिन्नत समाजत की, खुशामद की तब जाकर नहाने धोने के लिये चौथे दिन उठीं।

पत्नी—क्यों झूठ बोलो हो। मामूली बीमारी में पड़े थे? मामूली बुखार था? १०४ डिग्री का बुखार, न होश था न बातचीत; भला, ऐसे में कैसे कोई चुप बैठा रहता। और तुम अपनी कहो। मेरे सात बच्चे हुए। आठवाँ यह गोविन्द है। सातों हस्पताल में हुए। तो ये हस्पताल में धरना दिये बैठे रहते थे। चौबीस घण्टे में एक बार आदमी आते थे, पर इन्होंने तो हस्पताल से हटने की कसम खाली थी। चौकीदार के पास बैठे रहते और उसे भेज कर हर आधे, पौने घण्टे बाद मेरी खैर खबर लेते। कभी फल, कभी दूध, कभी दवा,

डाक्टरनियाँ भी हैरान थीं इनके मारे। मैं भी कैसी पागल हूँ। इतनी देर करदी जाऊँ चौका चूल्हा देखूँ न ? (जाती है।)

उमापति—चन्ना, ओ चन्ना, गया दिखता है। न जाने कैसी मिठाई लावे। मैं खुद जाता हूँ। कुछ नमकीन भी चाहिये। मैं भी कैसा पागल हूँ। क्या करूँ महेन्द्र, बूढ़ा हूँ। याद नहीं रहती भैया। जाऊँगा, हलवाई की तरफ से होकर बद्रीनाथ, रामधन को भी तुम्हारे आने की खबर दे दूँ। न हो आज शाम को तुम्हारे आने की खुशी में एक दावत ही क्यों न रहे। जाऊँ। (चलने लगता है)

महेन्द्र—आप इतना कष्ट क्यों करते हैं। पिताजी, मैं . . . . मर जाऊँगा मैं—मुँह दिखाने...

उमापति—(लौटकर) तुम घबरा क्यों रहे हो। यह तुम्हारा घर है। रहो, मैं अभी आया। (चला जाता है)

महेन्द्र—भयंकर कष्ट हैं। प्राण निकले जा रहे हैं। ओः मैंने कैसी भूल की। (छाती पर जोर से घूँसा मार कर) दुष्ट पापी, तूने देखा...ये आदमी नहीं है देवता हैं। न जाने क्यों मेरी इनके सामने जबान रुक जाती है। (झर झर आँसू बहने लगते हैं रोकर) मैं पागल हो जाऊँगा। पागल हो जाऊँगा, (ज़ोर से घूमता हैं।) मैंने युद्ध में पचासों आदमी मारे, पचासों का खून किया, किन्तु जब वह दृश्य याद आता हैं तो प्राण मुंह के बल उबलने लगते हैं। विश्वासों की धज्जियाँ उड़ जाती हैं। मेरी दृढ़ता न जाने कहाँ उड़ जाती है। पानी से बालू रेत की तरह मेरा अहंकार दब जाता है। मैं बड़ा पापी हूँ। न जाने

किस घड़ी में मैं घर आया। मैं क्यों नहीं किसी की गोली का शिकार होकर वहीं मर गया। हाय...बड़ा कष्ट है। किन्तु अब सब कुछ कह दूँगा। सब कुछ कह डालना होगा। मैं कह डालूँगा। चाहे जो कुछ हो। मैं स्वीकार कर लूँगा— मैंने मुझ पापी ने, मुझ दुष्ट, नीच, कुत्ते ने, तुम्हारे पुत्र की हत्या की है। मैंने हत्या की है। हाय मैं क्या करूँ। कोई भी उपाय नहीं है। इन दोनों देवताओं के सामने मेरी जीभ जैसे बाहर नहीं निकलती। (घूमकर देखता हुआ) नहीं, मैं नहीं कहूँगा। मैं इन दोनों का स्वप्न-संसार भंग नहीं करूँगा। मैं एक पत्र लिख कर यहाँ से भाग जाऊंगा। यही ठीक है। गोविन्द, तुम मेरे न जाने कब के शत्रु निकले। शत्रु-शत्रु, मैं पापी हूँ, मैं हत्यारा हूँ। (ज़ोर से) मैं हत्यारा हूँ। (इसी समय आवाज सुन कर उमापति की पत्नी दौड़ आती है।)

पत्नी—क्या तुमने मुझे बुलाया भैया? अरे तुम अभी तक नहाये भी नहीं। तुम इस गुसलखाने में चले जाओ न? यहाँ साबुन तोलिया सब कुछ है। ठहरो, मैं धोती लाती हूँ। ठहरो, गोविन्द ने अपने आप यह गुसलखाना बनवाया है। उसे तो एक ही काम था पढ़ना, पढ़ना, बस और कुछ नहीं। न किसी से बात चीत न कुछ, मैं घण्टों खड़ी रहकर खाने के लिये कहती तब खाता। हाय, न जाने अब वह कैसे रहता होगा। वहाँ बहू की सखी रमा जो है। वह कह रही है कि रमा के सामने उन्हें कोई तकलीफ़ न होगी। न जाने अब उसके कपड़े कौन निकालता होगा। मैं ऐसा

जानती तो चन्ना को भेज देती। चन्ना को मालूम है कौन चीज कहाँ रखी है। वही यहाँ भी उसे निकालकर देता था। एक इसका लड़का भी था वही गोविन्द के साथ कालेज के होस्टल में सदा रहा है। पर पिछले दिनों हैजे में—कितना भोला था बेचारा। कहता था 'माँजी, मैं तो भैया की सेवा के लिये पैदा हुआ हूँ।' अरे मैं धोती लाऊँ न! मैं भी कैसी पगली हूँ। कमीज तुम उसकी इस संदूक में से निकाल लो। लो। तुम कौन दूसरे हो। मैं अभी आई। (चली जाती है, महेन्द्र गोविन्द के सन्दूक से कपड़े निकालने के बजाय गोविन्द की तस्वीरें देखने लगता है।)

महेन्द्र—कितना भोला चेहरा है, कितनी शान्त, भाव-निस्पृह चेष्टा; ज्ञात होता है इस व्यक्ति को किसी वस्तु की भी आकांक्षा नहीं है। कपड़ों की तरफ से लापरवाह। कमीज के बटन खुले हैं, धोती बेढंगी बंधी है जैसे इसे कोई और ही धोती पहनाता हो। गोविन्द, तुम्हारे रूप को समझने में मैंने कितनी भूल की है। मैंने एक देवता को मार दिया; मैंने प्रकृति द्वारा उत्पन्न एक शुद्ध व्यक्ति की हत्या कर दी; कितना बड़ा पाप किया है मैंने। उससे भी कठिन समस्या है अब इन निरपराध दो प्राणियों के सामने उनके पुत्र की हत्या का वर्णन करना। इन दोनों की बातचीत से मालूम होता है मानों वात्सल्य, कर्त्तव्य, दायित्व का एक स्नेह-सागर इन दोनों के हृदय में उमड़ रहा हो। मैं कैसे इनके

सामने इनके पुत्र की मृत्यु का समाचार दूँ, क्या ये जीवित रह सकेंगे ? क्या यह पुत्र की मृत्यु का समाचार सह सकेंगे ? नहीं यह एक क्षण भी जीवित न रहेंगे। कदाचित् सुनने के साथ ही इनके प्राण पखेरू उड़ जायँगे। फिर तीन-तीन प्राणियों की हत्या का पाप मेरे ऊपर होगा। अरे, मैं क्या कह रहा हूँ। और उसकी पत्नी···नव विवाहिता पत्नी, उमा रमा की बालपन की सखी, क्या वह जीवित रह सकेगी ! नहीं मुझ से यह कथा नहीं कही जायगी। मुझ से इन प्राणियों की डकराते हुए मृत्यु नहीं देखी जायगी ? यह मैंने गोविन्द को मारते हुए क्यों नहीं सोचा ? क्यों रमा ने उस समय मुझे नहीं बताया कि गोविन्द निरपराध है ? क्यों नहीं मैंने यह पाप करने से पूर्व ही यह सब सोच लिया। ओह, यह कितना प्राणघाती संघर्ष मेरे हृदय में उठ रहा है। मानों वल्लियों मानस उद्वेलन मेरे प्राणों के सुख को पी जाने को आतुर है ! मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ। 'क्या सोचूँ।' गोविन्द की हत्या मेरे न जाने कौन से पापों का फल बनकर मेरे हृदय को, मेरे प्राण को, मेरे रोम-रोम को ग्रस रही है। मैं क्या करूँ। कोई भी उपाय नहीं है। कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है। मैं घोर संघर्ष में साँस ले रहा हूँ। हे ईश्वर, आज ईश्वर की याद आ रही है। (पत्नी आती है)

पत्नी—लो बेटा लो, यह धोती लो। न जाने कहाँ रखदी थी

उन्होंने। इतनी देर हो गई। बस, चाय तैयार है। जाओ।

(गुसलखाने में चला जाता है। उमा आ जाती है)।

उमा—माँ जी, यह कौन हैं कहाँ से आये हैं ?

पत्नी—तू नहीं जानती बेटी, यह तेरी सखी रमा का भाई है।

(उमापति का प्रवेश)

उमापति—मैं आगया! करो अब चाय की तैयारी। आज शाम को दावत है!

पत्नी—बस, चाय भी तैयार है।

तीसरा दृश्य

उसी कमरे में केप्टन महेन्द्र गुमसुम बैठा है। कभी-कभी उठकर गोविन्द की तस्वीरों को देखता है, कभी बेचैनी से टहलने लगता है। कभी लम्बी साँस लेकर काँपने-सा लगता है जैसे स्वप्न देख रहा हो। कभी-कभी उसकी चेष्टायें बिलकुल पागल की सी हो जाती हैं उसे उस कमरे की प्रत्येक वस्तु गोविन्दमय दिखाई देती है जैसे यह उन चीज़ों में से निकलकर उसके सामने आगे पीछे, ऊपर, नीचे, दायें-बायें घूम रहा हो। और 'महेन्द्र महेन्द्र' कहकर उसका तिरस्कार कर रहा हो। कह रहा हो 'देखो, तुम्हें कितना भ्रम हुआ है। मैं कितना निरपराध हूँ। मेरे माता पिता को देखो—वे कितना तुम्हें स्नेह करते हैं। और एक तुम हो जिसने निरपराध एक व्यक्ति की हत्या कर दी। केवल भ्रम में, केवल सेना में नौकरी करने की अनैतिक बहादुरी के जोश में आकर।'

वस्तुतः महेन्द्र के मस्तिष्क में घूमने वाले सब विचार रह रहकर बाहर

दिखाई देते हैं। उनसे कभी वह डर जाता है, और ज़रा से शब्द से चौंक उठता है। यही उसकी चेष्टा देर तक उस कमरे में रहती है। उस कमरे में चिड़ियों ने ऊपर वेंटिलेशन में एक घोंसला बना लिया है उसमें दो चिड़ियाँ उड़कर कभी बाहर जाती हैं कभी भीतर उड़कर घोंसले की ओर दौड़ती हैं। वह उनकी गति से भी भयभीत है। इसी समय कुर्सी पर बैठे एक हाथ मेज पर रखी किताब पर पड़ जाता है किताब जमीन पर गिर जाती है, वह चौंक उठता है—संध्यासमय—

महेन्द्र—यह किसने पुस्तक गिरा दी ! यह कैसे गिरी ? (वह उधर ही देखता रहता है। फिर वहाँ से हटते ही मेज की एक कील में उसकी धोती फँस जाती है वह झटके से फटती है) हैं, यह क्या ? यह मैं क्या देख रहा हूँ। यह क्या हो रहा है। मेरी धोती किसने खींच ली। गोविन्द का भूत मुझे घेर रहा है। (इसी समय बाहर से किसी के जोर से हँसने की आवाज़ सुनाई देती है) अरे यह क्या, यह कौन हँसा ? क्या गोविन्द, गोविन्द, गोविन्द, हटो सामने से हटो। मैं गोली मार दूँगा। (रिवाल्वर निकाल लेता है। इसी समय धीरे धीरे उमा प्रवेश करती है ! अठारह उन्नीस वर्ष की सुन्दरी। धारीदार लाल काले रंग की साड़ी पहने, वैसी बौडिस, पैर में सफेद चप्पल, गौर वर्ण, सुडौल शरीर। वह आकर विस्मित सी खड़ी हो जाती है। नमस्कार करना भूल महेन्द्र की चेष्टा देखकर कुछ भयभीत-सी होती है। महेन्द्र जो अपने विचारों में तल्लीन होकर आत्मसंघर्ष कर रहा था धीरे-धीरे उसे देखता है, देखता ही रहता है।) तुम, तुम………

उमा—नमस्कार करती हूँ ।

महेन्द्र—नमस्कार ! नमस्कार कैसा ! तुम कौन हो ! क्या तुम्हारा भी गोविन्द से कुछ सम्बन्ध है ?

उमा—मैं उनकी पत्नी हूँ । क्या आपको कोई आन्तरिक कष्ट है ?

महेन्द्र—(गौर से उसकी ओर देखता रहता है) गोविन्द की पत्नी, उमा, रमा की स् स्-सखी ।

उमा—हाँ, क्या मैं जान सकती हूँ आप इतने व्यग्र इतने व्याकुल क्यों हैं ? जब से आप आये हैं तब से आप बेचैन हैं, कुछ कहना चाहते हैं, पर"" ""।

महेन्द्र—हाँ, कह नहीं पाता । (ज़ोर से) कोई मेरी ज़बान पकड़ लेता है । मैं विवश हो जाता हूँ ।

उमा—तो आप कहना क्या चाहते हैं । कदाचित् मेरे सास ससुर के सामने आप बोल नहीं पाते । मैंने आपकी दशा पर्दे के पीछे खड़े होकर देखी है, कई बार देखी है, इसी से मैं आई हूँ वैसे भी आप मेरी सखी रमा के भाई हैं तो मेरे भी भाई हुए ।

महेन्द्र—नहीं, मैं रमा का भाई नहीं हूँ, मैं तुम्हारा भाई भी नहीं हूँ, मैं हत्यारा हूँ । मैंने घोर पाप किया है । मैं उसी की जलन में मर रहा हूँ । मेरा जीवन भस्म हुआ जा रहा है । मुझे कोई नहीं बचा सकता !

उमा—आपने क्या पाप किया है । यदि मैं आपकी सहायता कर सकूँ !

महेन्द्र—तुम मेरी कोई सहायता नहीं कर सकतीं उमादेवी! कोई भी मेरी सहायता नहीं कर सकता। मैं इसी तरह घुट-घुटकर मरूँगा। मैं मरना चाहता हूँ।

उमा—कुछ कहिये भी तो? विना कहे मैं जान भी क्या सकती हूँ।

महेन्द्र—(अपने आप) कुछ कहिये भी तो, क्या कह दूँ? कह दूँ। सब कुछ सामने है। स्पष्ट बिलकुल स्पष्ट। (चैतन्य होकर) क्या तुम सुन सकोगी? नहीं, तुम नहीं सुन सकती! किन्तु मैं कहे विना जी नहीं सकता। मैं कह डालने के लिये ही तो आया हूँ। मैं कहने के लिये आया हूँ। मैं कहूँगा। नारी, नारी तू सुनने के लिये तैयार होजा! आकाश गरज रहा है, बिजली गिर रही है, तारे एक-एक करके टूट रहे हैं। प्रलय हो रही है प्रलय, तुम सुनोगी! सुनो.....

उमा—यह तुम क्या कह रहे हो। मेरा हृदय फटा जा रहा है। क्या मेरे पति के सम्बन्ध में कोई बात है!

महेन्द्र—(नीचे देखता हुआ) हाँ, तुम्हारे पति के सम्बन्ध में, गोविन्द के सम्बन्ध में बात है। मैंने उसकी हत्या कर दी है!

उमा—(आगे बढ़कर) क्या कहा, हत्या???

महेन्द्र—हाँ, मैंने उसकी हत्या कर दी है! मैंने उसे अपनी बहन के साथ हँसते देखा था। मैं उसे शिकार पर ले गया! वहाँ मचान से गिरा दिया। शेर उसे खा गया।

उमा—हत्या,...हत्या...कर दी...(बेहोश-सी हो जाती है) हाय...

महेन्द्र—तुम मुझे दण्ड दो उमा, दण्ड दो, मैं सब कुछ सहने के

लिये तैयार हूँ। मैं यही कहकर शान्ति से मरने आया हूँ। मेरे रोम-रोम से आग की लपटें निकल रहीं हैं।

उमा—वह तुम्हारी वहन से हँसी करते थे ?

महेन्द्र—नहीं, नहीं यह झूठ है। मुझे भ्रम हुआ। परन्तु मेरा भ्रम उस समय दूर हुआ जब मैंने उसकी हत्या कर दी। वह निरपराध था। मुझे दण्ड दो। मैं दण्ड सहने के लिये आया हूँ।

उमा—(बहुत देर चुप-सी रहकर) तुम अब दण्ड सहने के लिये आये हो मेरे निरपराध पति की हत्या करके! मेरा सर्वनाश करके, मेरा सौभाग्य सिन्दूर पोंछ कर; नारकी, पापी, हत्यारे, तुम वहीं गोली मारकर क्यों नहीं मर गये। आह...

महेन्द्र—मैं तुम्हारे सामने अपराध स्वीकार किये विना शान्ति से नहीं मर सकता था उमादेवी! अब मैं कठोर से कठोरतर दण्ड सहने के लिये तैयार हूँ। मुझे दण्ड दो। यह रिवाल्वर पड़ा है। मुझे मार दो। मैं जल रहा हूँ, पश्चात्ताप की अग्नि से तिलतिल करके जल रहा हूँ। मुझे दिखाई दे रहा हैं कि मुझे दूसरे लोक में भी शान्ति नहीं मिल सकेगी। मुझे दण्ड दो। मेरे हृदय की अग्नि से उठे हुए स्फुल्लिगों से मेरा सारा धैर्य, शान्ति, विवेक जल रहे हैं। मेरी आँखों में नरक कुण्ड का धूम छा गया है। मेरी श्वास में भट्टी की भभक है। मुझे दण्ड दो। (आगे बढ़ता है) मुझे अपनी छाया से भी घृणा है उमादेवी!

उमा—दूर रहो दूर रहो नरक के कीड़े। दूसरों का स्वर्ग उजाड़ कर केवल भ्रम का पोषण करने वाले अज्ञान के कीट, दूर रहो। तुम्हें क्या अधिकार था, सैनिक दर्प में नग्न-मूर्खता, अविवेक को पाल कर पश्चात्ताप की तिलतिल करके दहकती आग में जलने वाले, तुमने मेरा स्वप्न, मेरा सारा सुख, मेरे विश्वासों पर खड़ी हिमालय-सी ऊँची कल्पना सो भव्य, शरदाकाश सी निरभ्र सुन्दर प्रासादिनी को बनते बनते ढहा दिया आह;

महेन्द्र—देवि, मैं उस प्रासादिनी के खण्डहर में केवल अपना''' अपना रुधिर तर्पण करने आया हूँ। तुम मुझे दण्ड दो। जिससे मैं शतशत जीवित नरक के अग्नि दाह से एक बार ही छुट्टी पा जाऊँ। जो चाहो करो, यदि तुम मेरी बोटी-बोटी कटवाकर कुत्तों को खिला दोगी तो भी मैं प्रसन्नता से स्वीकार करूंगा। पाप से उऋण हो सकूँगा। ओः कितनी आग है मुझ में, कितना दाह मेरे प्राणों में, कितनी जलन है मेरे रोम-रोम में। जैसे सारे संसार में पापाग्नि की बाढ़ आगई हो।

उमा—(क्रोध से पागल सी) मैं कौन होती हूँ तुम्हें मारने वाली। तुम'''तुम कुत्ते की मौत मरो पापी, नीच। मैं पुलिस को बुलाती हूँ। पुलिस पुलिस। वही तुम्हें दण्ड देगी। आह''' (धम्म से जमीन पर गिर पड़ती है। इसी समय उमापति की पत्नी आती है) नहीं अब नहीं सहा जाता, अब क्या हो सकता है। तुम्हारा दोष नहीं, मेरे भाग्य का दोष है।

पत्नी—क्या है क्या है, अरे, (बहू को जमीन पर बेहोश देखकर) यह क्या किया तुमने—…। बोलो……।

महेन्द्र—(उसी दशा में) मैंने गोविन्द की हत्या करदी माँ, यही कहने आया हूँ माँ, यही कहने आया हूँ।

पत्नी—(वज्रपात की तरह समाचार सुनकर) गो…ो…ो विन्द…। (वहीं गिर पड़ती है। इसी समय उमापति हाथ में मिठाई की टोकरी लिये आते हैं)

उमापति—क्या ? (समाचार सुनते ही मिठाई की टोकरी हाथ से छूट जाती है। बहुत देर तक स्तब्ध चुप खड़े रहते हैं)।

महेन्द्र—यही कहने मैं आया था बाबू जी, मैंने भ्रम से निरपराध गोविन्द की हत्या करदी। मुझे दण्ड दीजिये मैं सहने को तैयार हूँ। मैं पापी हूँ हत्यारा हूँ। मैं सबेरे से यही कहना चाहता था। मैं तिलतिल करके पश्चात्ताप की अग्नि में जल रहा हूँ। आप मुझे दण्ड दीजिये। दण्ड दीजिये। मैं आपक पैरों पर गिरकर वज्रदण्ड पात की भिक्षा माँगता हूँ। (पैरों पर गिरकर उमापति की तरफ देखता है। उमापति की आँखों से आँसुओं की धार बहने लगती है। किन्तु पर्वत की तरह दृढ़ता से कुछ देर स्तब्ध रहकर)

उमापति—दण्ड दूँ ! दण्ड, क्या दण्ड हो सकता है ? तुम मेरे दूसरे गोविन्द हो नटखट लड़के, तुम मेरे दूसरे गोविन्द हो। उठो ! (हाथ पकड़कर उठाते हैं)।

महेन्द्र—क्या ऽऽऽ?

अघटित

पात्र

योगेन्द्रसिंह—एक रियासत के महाराज।

ललितमोहन—दीवान।

महेन्द्रकुमार—कोषाध्यक्ष।

माधवी—राजकुमारी; सुपरिण्टेण्डेण्ट; एकाउण्टेण्ट।

पत्नी—ललितमोहन की पत्नी।

कांग्रेसी—एक कांग्रेसकर्मी।

कुशलसिंह—दीवान का नौकर।

[राजपूती तथा अंगरेजी ढंग से सजा एक कमरा। बीच में एक बड़ी सुन्दर-सी मेज़ रक्खी है, जिस पर शराब की कई खाली, अध-खाली और भरी बोतलें तथा काच के छोटे-बड़े गिलास रखे हैं। दिन में भी तेज बिजली से सारा कमरा प्रदीप्त है। दीवारों पर टँगे चित्र और इधर-उधर रखी मूर्त्तियाँ भी भासमान हैं। दीवारों के सहारे रखी आलमारियों में सजाई हुई पुस्तकों की सुनहरी जिल्दें चमचमा रही हैं। मेज़ के चारों ओर सोफ़े और बढ़िया कुर्सियाँ जहाँ-तहाँ बेतरतीब पड़ी हैं। कमरे के फर्श पर बढ़िया गलीचा बिछा है। उस पर एक हल्का सुनहरे रंग का जूता पहने अस्त-व्यस्त ललितमोहन इधर-उधर टहल रहा है। कभी मेज़ के पास रुककर एक पैग पीता है और फिर टहलने लगता है। व्यंग और क्रूरता-भरी विकृत हँसी के साथ वह दीवार पर टँगे महाराज योगेन्द्रसिंह के चित्र को देखता है और फिर मुँह बिचकाकर जैसे उसे चिढ़ाता है। फिर गर्व से सीना तान और गर्दन ऊँची कर टहलने लगता है। कभी बायें हाथ की सिगरेट से एक कश खींच धुएँ के बादल छोड़ने लगता है। उसी समय दबे-पाँव हाथ में कुछ कागज़ लिये कोषाध्यक्ष महेन्द्रकुमार आता है।

महेन्द्र—(कागज़ मेज़ पर रखकर) यह है सरकार, सारा लेखा-जोखा।

ललित—हूँ ! कितना रुपया है कुल ?

महेन्द्र—पचास लाख पचहत्तर हज़ार सात सौ नब्बे रुपए, सात आने और तीन पाई हुजूर ! इनके सिवा १५ लाख के जवाहरात, ५० हज़ार के चाँदी-सोने के बर्त्तन होंगे।

ललित—ठीक है। पाँच लाख से अधिक खज़ानें में नहीं रहना चाहिए, समझे !

महेन्द्र—तो बाक़ी ?

ललित—तुम जानते हो, शेष रुपया राज-परिवार के भरण-पोषण के लिए लगेगा। तुम आज ही रात को''अच्छा नहीं, तुम चाबियाँ मुझे दे दो।

महेन्द्र—यह सारा रुपया तो लिखा हुआ है, सरकार ! प्रति-वर्ष हम एजेन्सी को खज़ाने के रुपये का हिसाब भेजते हैं। इसके अतिरिक्त उसकी एक कापी···

ललित—मैं सब जानता हूँ। तुम चाबियाँ मुझे दे दो।

महेन्द्र—मैं···मैं मारा जाऊँगा, सरकार ! मैं कहीं का नहीं रहूँगा।

ललित—(ज़रा कड़क कर) महेन्द्रकुमार, जानते हो कि तुम किसके सामने बातें कर रहे हो ? इस समय रियासतों का विलीनीकरण हो रहा है। यदि खज़ाने में यह रुपया रहा तो भारत-सरकार का कब्ज़ा हो जायगा। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारी दयानतदारी का तुमको कुछ इनाम मिले। हम लोग तो रियासत के वफ़ादार नौकर हैं न ?

महेन्द्र—जी, सरकार! खज़ाने की एक चाबी एकाउण्टेण्ट साहब के पास है। हम दोनों मिलकर ही खज़ाना खोलते हैं। बाहर की चाबी उनके पास है और भीतर की मेरे पास।

ललित—(ताली बजाता है) कुशल, कुशलसिंह!

कुशल—(हाथ जोड़े हुए प्रवेश करके) जी, हुजूर!

ललित—एकाउण्टेण्ट साहब को जाकर हमारा सलाम दो और कहो कि खज़ाने की चाबियाँ लेकर अभी आवें। (कुशल-सिंह के चले जाने पर) महेन्द्र, तुम खज़ाने की अपनी चाबी मुझे दे दो।

महेन्द्र—बिना लिखित आज्ञा के तो सरकार···

ललित—(ज़ोर से पैर पटककर) मृत्यु को निमंत्रण मत दो, महेन्द्रकुमार! (महेन्द्र को चुप देखकर) मैं तुम्हारे परिवार के लिये इतना दे दूँगा कि यदि सरकार तुम्हें जेल में भी डाल दे, तो उसे कष्ट न होगा।

महेन्द्र—पर हुजूर, मैं लिखित आज्ञा के बिना···

ललित—तुम निरे मूर्ख हो! नई व्यवस्था में तुम्हारी जो दुर्दशा होगी, वह भी क्या बताने की आवश्यकता है? तुम कहीं के भी नहीं रहोगे। शायद तुम्हारी नौकरी भी छूट जाय, क्योंकि न रियासतों के अलग-अलग खज़ाने होंगे और न अलग-अलग कोषाध्यक्ष।

महेन्द्र—पर दीवान साहब, यह मेरे जीवन-मरण का प्रश्न है।

ललित—इस बारे में मैंने बखूबी सोच लिया है। (कड़क कर) यदि तुम बिना मौत मर कर अपने घर को बरबाद नहीं करना चाहते, तो तुम्हें जैसा कहता हूँ, करना होगा। तुम शायद मुझे अच्छी तरह से नहीं जानते।

महेन्द्र—(काँपते हुए हाथ से चाबी निकाल कर देता हुआ) यह लीजिए।

ललित—हाँ, लाओ और (जेब से सौ-सौ के चार नोट निकाल कर) यह लो तुम्हारा इनाम !

महेन्द्र—(आँखें नीची कर जाते हुए) नहीं, बस माफ़ कीजिएगा। मुझे ऐसा रुपया नहीं चाहिये। मैंने सारी जिन्दगी ईमानदारी से काम किया है अब इस समय मैं अपना धर्म नहीं बेचूँगा दीवान साहब ?

(चला जाता है)

[एकाउण्टेण्ट का प्रवेश]

ललित—(नोटों को जेब में रखते हुए मुस्करा कर) आइए, एकाउण्टेण्ट साहब ! कहिए, क्या हाल है ?

एकाउण्टेण्ट—आपने मुझे याद किया है ?

ललित—जी हाँ, आज भारत-सरकार के कुछ आदमी हिसाब-किताब देखने के लिए आने वाले हैं। आप खज़ाने की चाबियाँ मुझे देकर छुट्टी पर चले जाइये। मैं एक सप्ताह की आपकी छुट्टी मंजूर करता हूँ।

एकाउण्टेण्ट—क्या ऐसा करना ठीक होगा ?

ललित—बिल्कुल, बिल्कुल। आपका भला इसी में है। चाबियाँ

लाए हैं आप ?

एकाउण्टेण्ट—जी। किन्तु मेरे बाहर चले जाने पर तो…

ललित—मैंने पुनर्नियुक्त किए जाने वाले अफ़सरों की लिस्ट महाराज से हस्ताक्षर कराके रियासती सचिवालय के पास भेज दी है। उसमें आपका भी नाम है। हाँ, तो कहाँ हैं चाबियाँ ?

एकाउण्टेण्ट—किन्तु यह तो नियमोल्लंघन है। क्या आप…

ललित—(कड़क कर) लाओ, चाबियाँ दो मुझे।

एकाउण्टेण्ट—(चाबी सामने रखते हुए) जैसी आपकी आज्ञा किन्तु मेरी नौकरी…

ललित—(चाबी जेब में डालकर) जाओ, तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा।

[एकाउण्टेण्ट का जाना। ललित शराब का एक पैग और पीकर टहलने लगता है। नौकर का प्रवेश]

ललित—क्या खबर लाए हो ?

नौकर—सरकार, महाराज पधार रहे हैं।

ललित—(मुस्कराकर) अच्छा, अन्दर लिवा लाओ। हँ हँ, खूब है, यह भी खूब है। कभी गाड़ी नाव पर और कभी नाव गाड़ी पर। आज महाराज मेरी मुट्ठी में हैं। (कड़ककर गर्व से) मैं पीस डाल सकता हूँ।

[नौकर जाता है। चिन्तित मुद्रा में महाराज का प्रवेश]

योगेन्द्रसिंह—दीवान, क्या हुआ हमारे भाग्य का निपटारा ?

ललित—(आगे बढ़कर) महाराज, मामला बड़ा कठिन है।

रियासती सचिवालय का मन्त्री नहीं मानता। आपको सब-कुछ देना होगा। खानगी खर्च वे ही बाँधेंगे।

योगेन्द्रसिंह—सब-कुछ देना होगा!

ललित—हाँ, महाराज! किन्तु मेरी एक सलाह है।

योगेन्द्र—(उसकी तरफ देखते हुए) क्या?

ललित—आप अड़ जाइए। युद्ध कीजिए।

योगेन्द्र—(निराश हँसी हँसकर) पागल हुए हो! उस सत्ता के सामने और मैं अकेला अड़ूँ? सब ने आत्म-समर्पण कर दिया है। अब मैं ही अकेला क्या कर सकता हूँ? पर मैं चाहता हूँ…

ललित—(व्यंग्य से) आप महल को जलता देखकर उसमें टँगे चित्रों की रक्षा करना चाहते हैं! यही न? पर यह असम्भव है, महाराज।

योगेन्द्र—असम्भव क्यों? मैं तो सिर्फ यही चाहता हूँ कि खज़ाने का कुल रुपया मैं…

ललित—यह नहीं हो सकता। अब रुपया आपका नहीं है, वह भारत-सरकार का है।

योगेन्द्र—ललित मोहन, अभी तुम्हारा नहीं, मेरा हुक्म चलता है। बुलाओ खज़ानची और एकाउण्टेण्ट को। मैं कुछ रुपया छोड़कर शेष अपने खर्च के लिए लेना चाहता हूँ।

ललित—पर आप चिन्ता क्यों करते हैं? सरकार यदि आपसे राज्य लेगी, तो आपके भरण-पोषण का भार भी लेगी।

योगेन्द्र—मैं कहता हूँ, पहले उन दोनों आदमियों को बुलाओ।

ललित—एकाउण्टेण्ट छुट्टी पर गया है। खज़ानची के पास खज़ाने की चाबी नहीं है।

योगेन्द्र—तो किसके पास है ?

ललित—जहाँ आपकी पहुँच नहीं है।

योगेन्द्र—(कड़ककर) अर्थात् ?

ललित—रियासती सचिवालय के मंत्री के पास !

योगेन्द्र—(चौंककर) उसके पास कैसे पहुँची ? तुमने ऐसा क्यों होने दिया, दीवान ?

ललित—(पैग भरकर देते हुए)—आप बहुत परेशान नज़र आ रहे हैं। लीजिए, एक पैग पीजिए। आपकी तबियत ठीक हो जायगी।

योगेन्द्र—(पीता है) सचमुच मैं बहुत परेशान हूँ। आह, एक और दो।

ललित—लीजिए। (पैग देता है और खुद भी पीता है)

योगेन्द्र—(सोचकर) तुम खज़ाने की चाबियाँ लेकर कम-से-कम तीस लाख रुपये और जवाहरात निकाल लो मेरे लिए।

ललित—मैं ऐसा देशद्रोह नहीं कर सकता, महाराज।

योगेन्द्र—(कड़ककर) ललितमोहन; तुमको यह काम करना होगा। तुम अभी तक मेरे नौकर हो। जानते हो तुम किससे बात कर रहे हो ?

ललित—मैं मजबूर हूँ, महाराज।

योगेन्द्र—(कड़ककर) मैं तुम्हें यहीं समाप्त कर दूँगा। तुमने मुझे

धोखा दिया है। (जेब से पिस्तौल निकालता है)

ललित—(पैग भरकर देते हुए) लीजिए, एक पैग और पीजिए। मुझे मारना इतना सहज नहीं है, महाराज ! यह ललित-मोहन था जिसने अंगरेजी राज में आपको गद्दी से उतरने से बचाया। यह ललित मोहन ही था, जिसकी बदौलत आप बम्बई में उस एक्ट्रेस के पंजे से बचकर सही-सलामत निकल सके। मैं चाहता तो खज़ाना खाली करके जेल भिजवा देता। आप रियासत का शायद मुँह भी न देख पाते। सुनिए, मैंने खज़ाने के रुपये का सब हिसाब रियासती सचिवालय के मंत्री को भेज दिया है। प्रातःकाल होते-होते खज़ाने पर भारत-सरकार का कब्ज़ा हो जायगा।

योगेन्द्र—ओह ! मैं बरबाद हो गया ! मेरा सब-कुछ चला गया ! अब मैं क्या करूँ ?

ललित—(पास जाकर धीरे से) महाराज, आपको कितना रुपया चाहिए !

योगेन्द्र—(चौंककर) क्या मानी ?

ललित—यही कि मैं यत्न करके देखूँगा। अभी एक उपाय है।

योगेन्द्र—वह क्या ? मैं तुम्हारा आजीवन ऋणी रहूँगा दीवान ?

ललित—पर यह महँगा सौदा है, महाराज। मैं आपको बीस लाख रुपए, जवाहरात और सोने-चाँदी के बर्तन दे सकूँगा।

योगेन्द्र—कैसे ?

ललित—यह मुझ पर छोड़ दीजिए। ललितमोहन को उपाय

समझाने की जरूरत नहीं है महाराज, वह दीवान है , इतनी बड़ी रियासत का दीवान है। पर···पर···(तेज़ी से) पर राजकुमारी को एक-बार मेरे पास आना होगा।

योगेन्द्र—(क्रोध से) क्या, राजकुमारी को? क्या कह रहे हो दीवान? तुम्हारा दिमाग़ खराब तो नहीं है ललितमोहन? पाजी, तुम्हारी यह मजाल? मुझे यह नहीं मालूम था कि तुम इतने नर-पशु हो! (क्रोध में) पाजी, सूअर।

ललित—(अट्टहास करके) तो फिर आप जाइए।

[महाराज क्रोध से पागल होकर टहलने लगते हैं। दीवान एक पैग भरकर उनके पास ले जाता है]

ललित—(पैग आगे करके) बुरा लग गया, महाराज? लीजिए, एक पैग और पीजिए और याद कीजिए उन क्षणों को, जब आपने न-जाने कितनों की बहू-बेटियों को अधिकारपूर्वक बे-इज्ज़त किया है।

योगेन्द्र—(लौटकर) तू पापी है, धूर्त्त है, नर-पिशाच है! मैं तेरी हत्या कर डालूँगा। पाजी, सूअर, तेरे मुँह से यह पाप की बात निकली कैसे?

ललित—(व्यंगपूर्वक अट्टहास करके) पाप की बात कैसे निकली, आज आप पाप और पुण्य की वात सोचते हैं, आचार की ऊँची सीढ़ियों पर चढ़ने जा रहे हैं! और उस दिन···जब केवल अपने मजे के लिए आपने उस सेठ के पुत्र की नव-विवाहिता वधू को रातों-रात सोते हुए पकड़ मँगाया था, उस दिन क्या था महाराज? और उस दिन जब अपने ही

एक अफ़सर की पत्नी को आपने नौकरों द्वारा महल में पहुँचवा दिया था तब ? और उस दिन जब मेरे घर आए हुए अतिथि की कन्या के लिए आपका जी मचल उठा था ! पाप, तब पाप कहाँ गया था। क्योंकि आप राजा थे, सम्पूर्ण नियम-आचार-बन्धन आपके संकेत पर नाचते थे ! धर्म और क़ानून आपकी इच्छा थे ! क्या कोई भी सती-साध्वी जी मचल उठने पर आपके चंगुल से बच सकी, आपकी विष-बुझी काम-वासना से मुक्त हो सकी ? आज मेरी बारी है, महाराज ! वासना के उद्दाम बाज़ार में आज राजकुमारी को आना ही होगा—अपने और अपने पिता के अस्तित्व की रक्षा के लिए, मेरी प्रतिशोध की लपटों को शान्त करने के लिए।

योगेन्द्र—किन्तु वह मेरा पागलपन था, वह अविवेक था। मुझे उसका दुःख है।

ललित—और आज यह मेरा पागलपन है, महाराज। पागलपन, मैं आज पागल हो गया हूँ। मुझे राजकुमारी चाहिये। बस, यही मेरी शर्त है।

योगेन्द्र—(क्रोध से) मैं इस साँप के फन को कुचल दूँगा। मैं अब भी राजा हूँ। नीच, कुत्ते कहीं के।

ललित—(गम्भीरता से) यह साँप आपके परिवार का ग्रास कर लेगा, आपको बिना मृत्यु के मार डालेगा। जाइए, मुझे कुछ भी नहीं कहना है।

योगेन्द्र—(बिना समझे हुए) तो क्या तुमने अपनी बात लौटा ली, दीवान ?

ललित—ललित कभी कहकर पीछे नहीं हटता।

योगेन्द्र—पर राजकुमारी तो तुम्हारी पुत्री के समान है।

ललित—सारी प्रजा के पुरुष-स्त्री भी आपके पुत्र-पुत्री के समान थे महाराज !

योगेन्द्र—(छटपटाता हुआ टहलता है) कुछ नहीं सूझता, सब ओर अँधेरा है। जो अपने थे आजतक जिन्हें पाला वे आस्तीन के साँप निकले। क्या करूँ। बेचैनी से हृदय टूटा जा रहा है। कोई उपाय नहीं हैं (चुपचाप सोचकर) क्या हर्ज है। एक ओर रुपया है, सब दौलत है···(सोचकर) दौलत; दौलत (जोर से) दौलत से बढ़कर कुछ भी नहीं है। दीवान क्या यह तुम्हारी अंतिम शर्त है ?

ललित—अन्तिम महाराज !

योगेन्द्र—क्या करूँ। अच्छा (जाता है)

ललित—आपकी इच्छा भी पूर्ण होगी, महाराज ! गया, नरक की विवशताएँ पीकर आनन्द में जीने वाला नर-पिशाच गया। जा, आज मेरी बारी है। अब मैं तेरा और इस राज्य का भाग्य-विधाता हूँ। (फिर पैग पीता है)

[पत्नी का प्रवेश]

पत्नी—क्या तुम दिन-भर पीते ही रहोगे ? देख नहीं रहे, सारी दुनियाँ बदल रही है !

ललित—तुम क्यों आ गई ? तुमको किसने आने दिया ?

पत्नी—क्या यहाँ आने का मेरा अधिकार नहीं है, जो तुम ऐसा कहते हो ? अभी महाराज क्यों नाराज़ हो रहे थे ? वे बिगड़

कर क्यों चले गए ?

ललित—तुम्हारा अधिकार गहनों-कपड़ों पर है। तुम्हारा अधिकार पेट भरकर खाने-पीने-सोने का है। मेरा विश्वास है, उसमें तुम्हें किसी प्रकार की कमी न होती होगी। रही महाराज के नाराज़ होकर चले जाने की बात, सो वह राजनीति है। उससे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। बोलो, और किस चीज़ की आवश्यकता है तुम्हें ?

पत्नी—मुझे किसी भी चीज़ की ज़रूरत नहीं है। मैं केवल तुम्हें चाहती हूँ।

ललित—यह बकवास है, झूठ है।

पत्नी—यह सत्य है। पत्नी का आधार केवल पति ही है।

ललित—यह आदर्श है, किन्तु तुम्हारे और मेरे जीवन आदर्श के लिए नहीं बने हैं। तुम स्वयं सोचो, जब हमारी शादी हुई थी और मैं तुम्हारा भरण-पोषण ठीक-ठीक नहीं कर पा रहा था, क्या उन दिनों तुम्हें अच्छा खाने-पहरने की दिन-रात चिन्ता नहीं रहती थी ? क्या तुमने बार-बार नहीं कहा था कि मेरा जीवन तो दिन-भर मज़दूरनी की तरह पिसते रहने को है ? न खाने का ठीक है, न पहरने का, न सिर ढँकने को मकान है, न तन ढँकने को कपड़ा।

पत्नी—पर वह तो चाहिए ही।

ललित—(दृढ़ता से) इसलिए कि जीवन में उसका मुख्य स्थान था। इसलिए कि तुम्हें पति-प्रेम से अधिक अपनी मर्यादा

की, अपने शृंगार की, अपने वस्त्राभूषणों की, अपने सौन्दर्य को दूसरों को दिखाने और उनपर अपना जादू आज़माने की आवश्यकता थी।

पत्नी—नहीं, यह बात ग़लत है। तुमने मुझे सरासर ग़लत समझा है।

ललित—ठीक है, (एक पैग और पीकर) ठीक है। तुम्हारे जैसी पत्नियाँ पति के वास्तविक प्रेम को तिलांजलि देकर उसे परेशान करती हैं; उसका रहना, खाना, पीना, दूभर कर देती हैं। दिन-भर दफ्तर में साहब के साथ माथा-पच्ची करके, उसकी झिड़कियाँ खाकर भूखा-प्यासा पति घर आवे तो उसका ताने, व्यंग्य, आँसुओं से सत्कार करना यही परंपरा है न पत्नी की? खैर, जाने दो इन बातों को। तुम्हें जीवन में सबसे अभिलषित वस्तु की जो इच्छा थी, वह मिल गई। और क्या चाहिए? लो, यह काग़ज़ है। मैंने तुम्हारे नाम दो बँगले और पचास हज़ार रुपया जमा करा दिया है। अब तुम अपने बापके घर जाकर निश्चिन्त होकर रहो। आज ही रात की गाड़ी से मैंने तुम्हारे जाने का प्रबन्ध कर दिया है।

पत्नी—(चौंककर) क्या कहते हो तुम? मैं कहीं नहीं जाऊँगी। मैं नहीं जाऊँगी।

ललित—तुम्हें जाना होगा। मैं तुम्हें यहाँ नहीं रख सकता।

पत्नी—(नम्र होकर) किन्तु यह तो बड़ा अन्याय है, ज़बरदस्ती

(पैरों पर गिरकर) मेरा अपने पास रहने का अधिकार तो मत छीनो।

ललित—नहीं, अब कुछ नहीं हो सकता। तुम्हें जाना ही होगा। तुम वहाँ सुख से रहोगो। जाओ, जाओ।

पत्नी—पर मेरा सुख तो तुम्हारे पास है।

ललित—तो सुनो, मुझे अभी महाराज पकड़कर जेल में डाल देंगे। यदि तुम अभी काग़ज़ लेकर भाग नहीं जातीं तो हम लोग फिर एक वार वैसे ही भूखे-नँगे दरिद्री हो जायँगे। क्या तुम चाहती हो कि मेरे साथ तुम्हें भी कष्ट उठाने पड़ें ? और हम फिर आजन्म दरिद्री हो जायँ ?

पत्नी—(आश्चर्यसे) पर तुम कष्ट क्यों उठाओगे ? क्या तुमने कोई वेईमानी की है ?

ललित—क्या वेईमानी के विना भी कोई मालदार हो सका है ? क्या सूखे वेतन से मैं दो बँगले और पचास हज़ार रुपया तुम्हें दे सकता था ? अधिकार की सरिता में ही आयके स्रोत आकर गिरते हैं। मैंने न्याय के नाम पर अन्याय करके अपना घर भरा है। और उसके बाद भी मैं न्यायप्रिय, ईमानदार बना रहा हूँ। मैं लुटेरों का स्वामी हूँ। मैंने ग़रीब प्रजा को लूटने में महाराज की सहायता की है और स्वयं भी जी भरकर अपनी झोली भरी है।

पत्नी—तुम्हारी ये बातें मेरी तो कुछ समझ में ही नहीं आतीं।

ललित—मेरी बातें तुम्हारी समझ में आ भी नहीं सकतीं। पापी पापी को नहीं समझ सकता। तुमने इतना रुपया,

गहना पाकर कभी मुझसे नहीं पूछा कि यह हीरे, जवाहरात के गहने मैं कहाँ से लाता हूँ ? तुमने कभी मुझे अन्याय करने से नहीं रोका। तुम जानती थीं कि मैं पाप से, गरीबों को पीसकर, उन्हें कुचलकर रुपया कमाता हूँ और तुम प्रसन्न होकर, मुस्कराकर, खिलकर उस रक्त-सिंचित धन-राशि को सहर्ष स्वीकार करती रहीं। फिर भला तुम्हारी समझ में ये बातें कैसे आ सकती हैं ?

पत्नी—वह मेरी भूल थी।

ललित—किन्तु इसका प्रायश्चित अब यही है कि तुम इसी समय यह कागज़ लेकर अपने बाप के घर पर चली जाओ।

पत्नी—तुम्हें छोड़कर ?

ललित—हाँ, मुझे छोड़कर। मैं अब राजकुमारी से विवाह करूँगा। तुम्हारे लिए मेरे दिल या घर में अब कोई जगह नहीं है।

पत्नी—(चौंककर) और अभी तो तुम कह रहे थे कि महाराज तुम्हें जेल भेज रहे हैं। मैं नहीं जाती।

ललित—यह ऐसी ही रहस्यपूर्ण बात है; मैं तुम्हें फिर बताऊँगा। यदि तुम अपना नाश नहीं करना चाहतीं, तो रात को मोटर में बैठकर चली जाओ यहाँ से।

पत्नी—पर मेरी कुछ समझ में भी तो आवे।

ललित—सब बातें सब आदमी नहीं समझ सकते। यह राज-नीति है, समझीं ?

[चपरासी का प्रवेश]

चपरासी—पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब आए हैं, सरकार।

ललित—बुलाओ। (पत्नी से) तुम जाओ। रात को मोटर तैयार रहेगी। (एक ओर से पत्नी जाती है। दूसरी ओर से सुपरिण्टेण्डेण्ट का प्रवेश) आइए सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब! कहिए, क्या हुआ उस काम का?

सुपरि०—मैंने सब प्रबन्ध कर लिया है। इधर महाराज ने मुझसे सहायता चाही थी। मैंने बहाना बना दिया।

ललित—ठीक किया। सब ठीक तो है न?

सुपरि०—और तो सब ठीक है। सुना है, महाराज रियासती सचिवालय के मंत्री से मिलने जा रहे हैं।

ललित—क्या अकेले ही? पर आप उन्हें जाने मत दीजिए। मेरा बताया समाचार उन्हें पहुँचा दें। मुझे उनसे मिलना होगा। यह पत्र ले जाइए। इसी के अनुसार काम होना चाहिए। मुझे आप पर पूरा भरोसा है।

सुपरि०—आप चिन्ता मत कीजिए। मुझे तो अब नौकरी नहीं करनी है।

ललित—किन्तु मुझे अभी करनी है। मैं महाराज की नौकरी छोड़कर भारत-सरकार की नौकरी में जा रहा हूँ। मेरी बात पक्की हो चुकी है।

सुपरि०—ठीक है, आप जैसों की आवश्यकता भी होगी।

ललित—यह तो समय बतावेगा, सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब! मैंने यहाँ के रुपए का बँटवारा कर दिया है। पचास हजार

आपके हिस्से में हैं! क्यों स्वीकार है न?

सुपरि०—(प्रसन्नता से) आप मालिक हैं।

ललित—हाँ जाओ, महाराज की गति-विधि पर ध्यान रखना।

[सुपरिण्टेण्डेण्ट का जाना; एक काँग्रेसी का प्रवेश]

ललित—आइए, आइए! कहिए, क्या समाचार है? अब तो आप लोगों के दिन आ रहे हैं। जरा हमारा भी खयाल रखियेगा।

काँग्रेसी—मैं रियासती सचिवालय के मंत्री से मिला था। परसों मैं उनसे फिर मिल रहा हूँ। मेरा विचार है कि शीघ्र ही राज्य-प्रबन्ध काँग्रेसी मंत्रिमंडल के हाथ में आ जायगा।

ललित—आपको क्या बताऊँ, मुझे महाराज को समझाने में कितना समय लगाना पड़ा है। मैंने उनसे कहा यह राजाओं के स्वार्थ-त्याग का प्रसंग है, और जब इस समय देश को पूर्ण रूप से संगठित होना चाहिए, तब आप भी इस बलिदान त्याग से भारत-सरकार को दंग कर दीजिए। और सच तो यह है कि यदि इस समय हम लोगों ने एक होकर देश की रक्षा न की तो कदाचित् हमारी कुरबानियों से प्राप्त स्वतन्त्रता टिक न सके। और इस बात का उन पर असर भी हुआ जान पड़ा।

काँग्रेसी—आपने ठीक ही कहा। वस्तुतः इस समय देश को एक होकर अपनी बिखरी शक्तियों को सम्हालने की घोर आवश्यकता है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि रियासत के बड़े

बड़े लोग मिलकर संघ के लिए मुझे प्राइम-मिनिस्टिर बनाने की सिफ़ारिश करें। बात यह है कि जिस व्यक्ति का नाम लिया जा रहा है, माना उसने त्याग किया है, जेल भी कई बार गया है; पर योग्यता भी तो कोई चीज़ है। वैसे काम तो आप लोग ही करेंगे।

ललित—बेशक, बेशक, योग्यता होना ही ज़रूरी है। मैं तो आपका खादिम हूँ। मेरी सेवाएँ आपके साथ हैं। (शराब ढालकर देता हुआ) लीजिये न !

काँग्रेसी—(झिझक के साथ) अरे क्या मैं पीता हूँ ?

ललित—वैभव के साथ इसका गठ-बंधन है श्रीमान्। पीजिये भी प्रारंभ बुरा नहीं रहेगा।

काँग्रेसी— (लेकर पीता हुआ) मुझे इस समय आपकी सहायता की आवश्यकता है दीवान साहब ?

ललित—आप निश्चिन्त रहें। मैं आपका काम करूँगा, किन्तु...

कांग्रेसी—किन्तु-विन्तु क्या, प्राइम-मिनिस्टर बन गया, तो आपको ही एडमिनिस्ट्रेटर बनाऊँगा।

ललित—मुझे आपसे ऐसी ही आशा है। फिर आप भी देखेंगे कि मैं संघ का कैसा प्रबन्ध करता हूँ।

काँग्रेसी—इस समय रद्दोबदल हो रही है। रजिस्ट्रेशन-आफिस के रिकार्ड में से यदि लछमनदास की वह खाली भूमि हट सके, तो मैं वहाँ एक बँगला बनवालूँ।

ललित—उसपर तो कब्ज़ा ही करना होगा।

काँग्रेसी—यह मैं कर लूँगा। आपका इशारा मिलते ही रातों-रात काम शुरू हो जायगा।

ललित—तो आपके नाम चढ़वा दूँ उसे ?

काँग्रेसी—कोई ऐसी तरकीब हो सके तो।

ललित—हो जायगी। पटवारी बातचीत कर लूँगा और ?

काँग्रेसी—बस, बस, मैं चलता हूँ। (पास आकर कान में कुछ बात कहकर चलने को बढ़ता है)

ललित—हाँ, हाँ, अवश्य। भला अब आपका काम न होगा तो किसका ...

[काँग्रेसी का जाना]

ललित—(चिल्लाकर) बनते हैं देशभक्त ! भला, जेल हो आने से ही क्या ? क्या अन्तर है इसमें और मुझ में ? जो लोग जीवन में सफल न हो सके, उन्होंने देशभक्ति के सफल-मार्ग का अवलम्बन करके त्यागी, महात्मा, देशभक्त का बाना पहन लिया है। बस ! (एक पैग चढ़ाता है) कहीं धर्म की ओट में पाप है, कहीं पाप ही पाप है ! हा-हा-हा-हा-हा ! मेरी तो प्रतिज्ञा है यदि महाराज को रुपया चाहिए तो उसे भी आना ही होगा। ह ह ह ह;

[राजकुमारी का प्रवेश]

राज०—(जोर-जोर से साँस लेती हुई) ओह, यह दिन भी देखना था।

ललित—ओहो ! आओ ! तुम तो पीती हो न, लो आओ।

राज०—(क्रोध से) तुम मुझसे क्या कहना चाहते हो ?

ललित—धीरे से) तुम जानती हो राजकुमारी !

राज०—(गरज कर) नहीं, मैं कुछ नहीं जानती ।

ललित—(ज़रा तेज़ी से) तो फिर क्यों आई हो ?

राज०—तुमने बुलाया है ? महाराज ने भेजा है मुझे।

ललित—जिसने तुम्हें भेजा हैं, उसने बताया होगा कि तुम यहाँ किस लिए आ रही हो ।

राज०—मैं इस तरह की बातें सुनना पसन्द नहीं करती ।

ललित—तुम जानती हो माधवी, कि आज तुम्हारा और महाराज का अस्तित्व मेरी मुट्ठी में है ।

राज०—मैं जानती हूँ कि तुम मेरा अपमान करना चाहते हो। मुझे अपने घर बुलाकर मेरी पद-मर्यादा, मेरे पिता की बची-खुची प्रतिष्ठा, नष्ट करना चाहते हो । एक पतंगा खुद जलकर मरने के बजाय दीपक को ही बुझा देना चाहता है ।

ललित—तुमने ठीक समझा, माधवी ! वह पतंगा पागल है। (दृढ़ता से) तुम्हारा अभी तक विवाह नहीं हुआ है न ?

राज०—तुम मेरे विवाह की बात छोड़कर कोई और बात करो ।

ललित—सुनो राजकुमारी, मैं चाहता हूँ कि तुम अपने पिता के लिए मुझसे रुपये की भिक्षा माँगो और उसके बदले में गिड़गिड़ा कर आत्म-समर्पण करो ।

राज०—(दाँत पीसकर) तुम होश में तो हो न ? क्या यही अप-

मान करने के लिए तुमने मुझे यहाँ बुलाया था ?

ललित—ओह, अपमान ! क्या मानापमान का बोध है तुम्हें ?

राज०—(क्रोध से काँपते हुए) नीच !

ललित—तो तुम जा सकती हो। जाओ (पैग पीता है)

[राजकुमारी जाने को होती है; फिर रुक कर]

राज०—मैं पहली बात के लिए तैयार हूँ, दीवान।

ललित—मैं दूसरी बात भी चाहता हूँ।

राज०—यह नहीं हो सकता, कभी नहीं हो सकता। मैं तुम्हें जान से मार दूँगी, नालायक, पाजी तुममें इतनी भी मनुष्यता नहीं है। दुर्दिन देखकर एक अबला पर अत्याचार करना चाहते हो !

ललित—अत्याचार सहकर आज अत्याचार करने की मेरी बारी है, राजकुमारी ? क्या मेरे परिवार की कुमारी कन्या पर किए गए अनाचार पर तुमने जो कहा था, वह भूल गईं ? 'क्या हुआ महाराज ने उसको बुला लिया तो ? कौन-सा आकाश फट पड़ा। आखिर एक औरत ही तो है न ? कहाँ महाराज और कहाँ वह !' मेरे हृदय में वही बात काँटे की तरह आज तक चुभती रही है। मैंने प्रतिज्ञा की है कि उसी तरह मैं भी महाराज से, उनकी कन्या से बदला लूँगा। आज उसी का दिन है, राजकुमारी।

राज०—मैं तब अन्धी थी, अज्ञान थी। मैं अपने उस वचन के लिए क्षमा माँगती हूँ।

ललित—किसी व्यक्ति की हत्या के लिए क़ानून अपराधी को

कभी क्षमा नहीं करता। उसका दण्ड तो हत्यारे को भोगना ही पड़ता है।

राज०—किन्तु जिसके हाथ में क़ानून है, वह चाहे तो क्षमा भी कर सकता है।

ललित—ललित क्षमा करना नहीं जानता, राजकुमारी।

राज०—(आर्त्त स्वर में) मैं केवल पिताजी की सम्पत्ति बचाने के लिए तुम्हारे पास आई हूँ, पिताजी को भिखारी बनने से बचाने के लिए। अगर तुम्हें बदला ही लेना है, तो लो। मेरे ऊपर जो अत्याचार करना हो, कर लो। मैं तैयार हूँ।

ललित—मैं तुम पर अत्याचार नहीं करना चाहता। मैं तो प्रणय की भिक्षा माँगता हूँ।

राज०—प्रणय की! जानते हो इस शब्द का अर्थ? मैं तिरस्कार करती हूँ तुम्हारा। (घबरा कर) नहीं, मैं तैयार हूँ। बोलो, बोलो, एक बार कह दो कि मेरे पिताजी को उनकी सम्पत्ति मिल जायगी।

[दौड़ते हुए योगेन्द्रसिंह का प्रवेश]

योगेन्द्र—सुनो दीवान, सुनो। (राजकुमारी को देखकर) तुम, माधवी, तुम यहाँ कैसे? इस धूर्त्त नर-पिशाच के पास तुम क्यों आई?

राज०—मैं दीवान से प्रार्थना करने आई थी कि···

योगेन्द्र—वह प्रार्थना मैं नहीं चाहता। मैंने निश्चय कर लिया है कि कोष का सब रुपया, गहने, जवाहरात आदि भारत-

सरकार को दे दूँगा। मुझे कुछ नहीं चाहिये।

राज०—कुछ नहीं चाहिये ?

[ललित मोहन की पत्नी का प्रवेश]

पत्नी—हाँ, मुझे कुछ भी नहीं चाहिए। यह लो अपना कागज। मैं भूखे रहना पसन्द करती हूँ, मैं मजदूरी करके खा लूँगी; पर यह न लूँगी। (कागज़ फेंक देती है।)

ललित—(आश्चर्य से) क्या तुम भी····

पत्नी—मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं केवल तुम्हें चाहती हूँ।

योगेन्द्र—यह युग नये विश्वास के साथ उदय हो रहा है दीवान। राजा का अस्तित्व कलकी वस्तु हो गया है। मैंने सब दास-दासियों और रखेलियों को छुट्टी दे दी है।

ललित—इतना हो गया, इतना जैसे सब-कुछ बदल रहा है। यह मेरे हृदय में क्या हो रहा है! यह मैं क्या सुन रहा हूँ ?

योगेन्द्र—वही जो इस समय मुझे कहना चाहिये।

ललित—तो क्या आप सब-कुछ त्याग के लिए तैयार हैं ?

योगेन्द्र—बिलकुल, तुम अभी जाकर रियासती मन्त्री को सारा कोष सौंप दो। मुझे कुछ भी नहीं चाहिये ?

ललित—'मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। तुम अभी जाकर रियासती मंत्री को सारा कोष सौंप दो' सब कुछ, क्या सब कुछ बदल रहा है, हाँ सब कुछ बदल रहा है। मेरे हृदय में भी परिवर्त्तन हो रहा है। मुझे दिखाई दे रहा है कि मैंने बहुत पाप किए हैं। मैं भी यह विश्वासघात नहीं करूँगा,

महाराज। (राजकुमारी से) मुझे क्षमा करो माधवी, प्रति-शोध की आग में मैं अन्धा हो रहा था।

योगेन्द्र—(ललित पत्नी द्वारा फेंका हुआ कागज़ उठाकर देता हुआ) यह क्या है?

ललित—मैंने रियासत को लूटकर जो सम्पत्ति कमाई, उसी का यह ड्राफ्ट है, मैं पापी हूँ। आज मेरी आँखें खुल गई हैं। बेईमानी की यह कमाई आखिर हज़म कैसे होती महाराज?

राज०—तब हम लोग कैसे रहेंगे, पिता जी?

योगेन्द्र—बेटी, आज से हम लोग राजा नहीं, जनता हैं—भारत-सरकार की प्रजा।

राज०—किन्तु महाराज···

योगेन्द्र—चलो, बेटी। अब पैतृक अधिकार से जनता को लूट कर नहीं, पसीने की कमाई खाने के दिन आ गए हैं। ललित, आज से हम और तुम एक हैं। आओ, मिलकर इस देश को सभ्य, समुन्नत और सुसंस्कृत बनायें।

ललित—अब यह देश कभी पराधीन नहीं हो सकता। शोषण और पराधीनता सचमुच अब मर चुके। मर चुके।

॥ समाप्त ॥

महाराज। (राजकुमारी से) मुझे क्षमा करो माधवी, प्रतिशोध की आग में मैं अन्धा हो रहा था।

योगेन्द्र—(ललित पत्नी द्वारा फेंका हुआ कागज़ उठाकर देता हुआ) यह क्या है ?

ललित—मैंने रियासत को लूटकर जो सम्पत्ति कमाई, उसी का यह ड्राफ्ट है, मैं पापी हूँ। आज मेरी आँखें खुल गई हैं। बेईमानी की यह कमाई आखिर हज़म कैसे होती महाराज ?

राज०—तब हम लोग कैसे रहेंगे, पिता जी ?

योगेन्द्र—बेटी, आज से हम लोग राजा नहीं, जनता हैं—भारत-सरकार की प्रजा।

राज०—किन्तु महाराज···

योगेन्द्र—चलो, बेटी। अब पैतृक अधिकार से जनता को लूट कर नहीं, पसीने की कमाई खाने के दिन आ गए हैं। ललित, आज से हम और तुम एक हैं। आओ, मिलकर इस देश को सभ्य, समुन्नत और सुसंस्कृत बनायें।

ललित—अब यह देश कभी पराधीन नहीं हो सकता। शोषण और पराधीनता सचमुच अब मर चुके। मर चुके।

॥ समाप्त ॥